

जाननहार जानने में आता है प्रस्तावना - (हिन्दी)

संकलित... कलम से

श्री जिनेन्द्र भगवंतो के द्वारा; एवं जिनकी परिणति बारंबार "जाननहार जानने में आता है" ऐसे प्रचुर भाव से स्वभाव आरूढ़ होकर स्वभाव का अभिनंदन करती है; ऐसे कुंद अमृत अचार्यों के द्वारा प्राप्त सुधारस को अपने ज्ञानसागर मे अप्रतिहत भाव से जानकर जीवमात्र को "जाननहार जानने में आता है" का मन्त्र देनेवाले गुणमूर्ति श्री कहान गुरुदेव के गुणगान की गौरवगाथा शब्दों में अनिर्वचनीय है।

जैसे लौकिक में तीन वस्तुएँ उत्तम गिनी जाती हैं:- (१) कल्पवृक्ष (२) कामधेनु (३) चिंतामणि, क्योंकि इन तीनों वस्तुओं की गणना इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति कराने में होती है। वैसे ही 'जाननहार जानने में आता है' कल्पवृक्ष है, कामधेनु है और चिंतामणि है। इस ग्रंथ में साक्षात् मोक्षसुख प्राप्त होने का उत्कृष्ट निमित्तपना रहा हुआ है। जगत में उपदेश दाता तो बहुत देखने को मिलते हैं परन्तु सिद्धांत दाता तो कोई अति विरले महापुरुष ही होते हैं।

हे धर्मपिता कहानलाल! दिनरात हम फूलें-फूलें ऐसा मंत्र आपश्री ने बहुत-बहुत करुणा करके हम बालकों को दिया है। "मैं जाननहार हूँ" ऐसा जिसे समझ में आया उसे ही **"जाननहार जानने में आता है।"**

यह भेदज्ञान की तीक्ष्ण 'चाबी' हाथ में आते ही ऐसा लगना चाहिये कि : यह तो रत्न चिंतामणि निधान मिल गया! अरे! भवसमुद्र तैरने की नाव मिल गई! ऐसा कहनेवाले हमें कौन मिलते!! इससे ज्यादा अब क्या चाहिये!! हमारा सर्वस्व आपने हमें दिया है।

* वस्तुस्थिति -> जाननहार जानने में आता है।

* मेरी स्थिति -> जाननहार जानने में आता है।

* परिस्थिति-> पर की स्थिति। अर्थात् पर की ओर मुड़ी हुई ज्ञान की पर्याय में भी जाननहार जानने में आता है।

यह स्वभाव की बात ऐसी आयी है कि : पर को जानता नहीं हूँ, पर जानने में आता नहीं है; "जाननहार जानने में आता है" एवं ज्ञान जाननहार को ही जानता है। इस बात की जो कीमत करेगा वह नियम से मोक्षगामी ही होगा। इसके फल में केवलज्ञान होगा, यह इतनी सच्ची और पक्की बात है। प्रत्येक को हृदय में टंकोत्कीर्ण कर लेने जैसी है।

इसप्रकार श्रुतज्ञान सागर अमृत की हिलोरें लेते हुये अद्भुतातीत प्रकृष्ट प्ररूपणा की। वचन अगोचर तत्व है उसका अप्रतिहत भाव से सन्देश दिया है। जहाँ वज्रवाणी छूटी कि : "ज्ञान पर को नहीं

जानता"; वहाँ तो मुमुक्षु जगत में खलबली मच गई। अनेक उपसर्गों के बीच आपश्री सुमेरू के समान अचल और अडिग रहे। त्रिकाल सनातन सैद्धान्तिक वस्तुस्वरूप की निःशंक बुलंद गर्जना करते हुए और स्वरूप की साधना करते हुए आगे बढ़ते रहे। मंगल सिद्धांत की मंगल उद्घोषणा की और संसारी जीवों की कर्ताबुद्धि और ज्ञाताबुद्धि के नाश की औषधि दी। इसप्रकार ध्येयपूर्वक ज्ञेय भाव में आमंत्रित किया।

जिसप्रकार प्रवचनसारजी शास्त्र की ११४ गाथा की टीका में 'अनुक्रम' शब्द लिया है; वैसे ही "जाननहार जानने में आता है" इस पुस्तक में दो पाठ हैं और ये दोनों पाठ अनुक्रम से लिए हैं। सबसे पहले कर्ताबुद्धि के शल्य पर एटम बम फेंका है और फिर ज्ञाताबुद्धि के शल्य पर एटम बम फेंका है। पहला पाठ है 'करनेवाला नहीं वरन् जाननेवाला है'। दूसरा पाठ "जाननहार जानने में आता है वास्तव में पर जानने में नहीं आता।" जहाँ कर्ताबुद्धि और ज्ञाताबुद्धि का निषेध किया तो स्वभाव का स्वीकार हुआ वहाँ साक्षात् ज्ञाताभाव में पदार्पण हुआ। इसप्रकार यह ग्रंथ मिथ्यात्व का जहर उतारनेवाला है।

और "जाननहार जानने में आता है, वास्तव में पर नहीं", इस सूत्र के परिज्ञानपूर्वक प्रत्येक वचनमृत को विविध न्यायों से... विविध तर्कों से... भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से... इस एक ही सूत्र का प्रतिपादन होने से इस पुस्तक का नाम अस्तिपरक "जाननहार जानने में आता है" रखा है। पहली कहावत है कि "यथा नाम तथा गुण।" जैनदर्शन की इस भव्यकृति को मुमुक्षुगण के समक्ष रखते हुये अत्यंत हर्ष हो रहा है।

श्री समयसारजी में कर्ताबुद्धि के नाश के लिए उत्कृष्ट न्याय दिया कि : 'तद्रूपो न भवति'। उसरूप नहीं होता इसलिए कर्ता नहीं है। वही सिद्धांत श्री सेटिका की गाथा में लगाना। पर को क्यों नहीं जानता? तन्मय नहीं होता इसलिए जानता नहीं। पर में तन्मय होऊँ तो पर को जानूँ न? इसप्रकार कर्ताबुद्धि और ज्ञाताबुद्धि के नाश का न्याय एक जैसा दिया। जो जिसका होता है वह उसे ही प्रसिद्ध करता है।

चारों तरफ से संशोधन करके इन महापुरुष ने कैसा माल दिया है! कोई जीव प्रतिभास के स्वरूप का विचार करे तो भी भेदज्ञान, लक्ष के स्वरूप का विचार करे तो भी भेदज्ञान और ज्ञान के मूल स्वभाव का विचार करे तो भी भेदज्ञान।

एक बार देवलाली में पूज्य भाईश्री से किसी मुमुक्षु भाई ने प्रश्न पूछा कि: समयसार को भाव से पढ़ना अर्थात् क्या? पूज्य भाईश्री ने कहा, "मैं तो ज्ञानानंद एक आत्मा जाननहार... जाननहार... जाननहार हूँ। आहा! मुझे तो "जाननहार ही जानने में आता है।" प्रत्यक्ष होने से पहले मुझे परोक्ष में "जाननहार जानने में आता है" उसे 'भाव से पढ़ा' कहने में आता है।

इसप्रकार इस ग्रंथ में स्वानुभव प्रगट करने का अत्यंत सुगम और सरल पंथ बताया है। वह भिन्न-भिन्न कोटि के आत्मार्थी जीवों को अत्यंत उपकारी है। जो कोई आत्मार्थीजन अतिशय उल्लसित वीर्यपूर्वक इन वचनमृत बिन्दुओं का गहरा 'निजी' स्वाध्याय करेगा और उसमें रहे हुए भावों को भावभासन में लेगा वह अवश्य परमानंद को प्राप्त होगा ही।

जैसे सिद्ध भगवान की पूजा के अर्घ्य १००८ हैं, श्री अरिहंत भगवान के शरीर के चिन्ह १००८

होते हैं एवं अरिहंत भगवान के नाम भी १००८ होते हैं, वैसे ही 'जाननहार जानने में आता है' इस भेदज्ञान की मौक्तिक माला के १००८ मोती 'श्रीकार' के रूप में हैं। जैसे बाल तीर्थकर का जन्माभिषेक भी सौधर्म आदि देवों द्वारा १००८ कलशों के द्वारा होता है, वैसे ही "जाननहार जानने में आता है" के १००८ बोल 'मंगल कलश' हैं।

हमारा प्रथम पुष्प 'ज्ञान से ज्ञान का भेदज्ञान' एवं द्वितीय पुष्प "द्रव्य स्वभाव पर्याय स्वभाव" उन दोनों पुस्तकों के वचनामृतों को इस पुस्तक में नहीं लिया है। अतः स्वाध्याय प्रेमी को इस पुस्तक के स्वाध्याय के साथ-साथ उन दोनों पुस्तकों के वचनामृतों का भी स्वाध्याय करने हेतु विनती है।

आज से लगभग दस वर्ष पहले "जाननहार जानने में आता है" के वचनामृतों को अपने निज स्वाध्याय के लिए एकत्रित करने का मैंने निर्णय किया था। पूज्य भाईश्री के प्रवचनों में से, सामूहिक चर्चा में से, अंतरंग चर्चाओं में से... ऑडियो कैसेट में से.. वीडियो कैसेट में से वचनामृत इकट्ठे होते गए; और "बूंद-बूंद से सरोवर भरता है" इस कहावत के अनुसार इस धन्य पल में... धन्य घड़ी में... पुस्तकाकार के रूप में सार्थक हुई है। बिखरे हुए मोतियों को पुस्तकरूपी माला में पिरोया हुआ देखकर मुझे सुखद आश्चर्य होता है। मेरी मन की उर्मियाँ आनंद से खिल उठी हैं। "जाननहार जानने में आता है" इस कृति में बारह अंग और चौदह पूर्व का सार भरा है। "सागर को गागर में" नहीं लेकिन एक प्याले में संक्षेप करके समा दिया है। यह गाढ़ अमृत का प्याला भव्य आत्माएँ आसानी से 'पी' सकें ऐसा है।

इस रचना में केवल प्रैक्टिकल और अनुभव की प्रधानता रही हुई है। इस ग्रंथ में उपदेश की मुख्यता नहीं है। साध्य की सिद्धि, प्रयोजन की सिद्धि तत्क्षण कैसे हो उसकी उपादेयता पूर्वक इस कृति का सर्जन हुआ है। इस मंगलमयी परम पवित्र वचनामृतरूप मोतियों को माला में पिरोकर ग्रंथरूप में प्रकाशित करने का हमारी संस्था ने जो निर्णय किया है वह वास्तव में बहुत ही प्रशंसनीय और प्रमोदनीय है।

इस पुस्तक प्रकाशन में मुझे प्रत्यक्षरूप से या परोक्षरूप से जो सहयोग प्राप्त हुआ है, उन सभी की मैं आभारी हूँ। इस पुस्तक के संकलन और संपादकीय कार्य में मुझे प्रोत्साहित करने में आत्मार्थी भाई श्रीशांतिभाई झवेरी का, आत्मार्थी नवीनभाई बोघानी का एवं आत्मार्थी चेतनभाई का मैं अंतःकरण से आभार मानती हूँ। इससे पूर्व की दोनों पुस्तकों में एवं इस पुस्तक में जिनके द्वारा सुंदर मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है, ऐसी आत्मार्थी बहनश्री शैलाबेन बोघानी की इच्छा न होते हुए भी... मैं अंतःकरण पूर्वक आभार प्रदर्शित किए बिना नहीं रह सकती। और जिन्होंने माता की तरह सदा मुझे वात्सल्य दिया और मेरे प्रत्येक कार्य में मेरे साथ ही खड़ी हैं एवं मेरी अलग-अलग डायरी में लिखे हुए बोलों को एक डायरी में लिखकर देने के लिए आत्मार्थी चंदनबेन पुनातर का हृदय से आभार मानती हूँ।

इस ग्रंथ का संकलन और संपादन करने से मुझे जो अंतरंग लाभ हुआ है वह अवर्णनीय है। यह कार्य मैंने अपने निज स्वभाव की पुष्टि और देव-गुरु-धर्म की यथार्थ प्रभावना के हेतु से किया है। यह महान कार्य पूज्य गुरुदेवश्री और पूज्य भाईश्री के पुण्योदय से एवं मुमुक्षु भाई-बहनों के सहयोग से

पूर्ण हुआ है।

इस ग्रन्थ की आदि से पूर्णता तक के मेरे प्रेरणा स्रोत पूज्य गुरुदेवश्री और पूज्य भाईश्री हैं। उनके मंगल आशीर्वाद से यह कार्य परिसंपन्न हुआ है। अंत में "जाननहार जानने में आता है" पुस्तकरूपी पुष्पमाला पूज्य गुरुदेवश्री और पूज्य भाईश्री के कर-युगल में सविनय सादर भाव से समर्पित करती हूँ। सभी सत्पुरुषों के... चरणों की अनुरागी...!

बा. ब्र. शोभनाबेन जे. शाह

(राजकोट)

प्रत्येक जीव यद्यपि अपनी पर्याय की सामर्थ्य को ही जानता है लेकिन उसे अपने ज्ञान का भरोसा नहीं आता है इसलिए वह पर का बहुमान करने में रुकता है और स्व को भूल जाता है; परंतु "मैं अपने ज्ञान सामर्थ्य को जानता हूँ, पर को मैं वास्तव में जानता नहीं हूँ और मेरा ज्ञान सामर्थ्य तो परिपूर्ण है"; इसप्रकार स्व की महिमा आये तो किसी पर की महिमा न आये।

(आत्मधर्म अंक नं. २६ पेज नं. ५७)

संपादक की कलम से... मंगलाचरण

"जानूँ मैं जाननहारा... देखूँ मैं देखनहारा..."

शाश्वत चेतन भगवाना... बस यही समय का सारा..."

जैनदर्शन की प्राचीनता यह है कि "जाननहार जानने में आता है"

जैनदर्शन की अर्वाचीनता यह है कि "जाननहार जानने में आता है"

जैनधर्म की समीचीनता यही है कि "जाननहार जानने में आता है।"

और "जाननहार जानने में आता है" यही तो जैनदर्शन की अनुपमता है न! इसप्रकार सकल साध्य की सिद्धि का एकमात्र उपाय "जाननहार जानने में आता है" वह ही है।

जिसप्रकार 'जाननहार जानने में आता है' वह ध्रुवस्वभाव की ध्रुव भूमि में ध्रुवता से प्रतिष्ठित है; वैसे ही 'जाननहार जानने में आता है' ऐसी मंगलमयी भूमि में ही मंगलमयी सम्यग्दर्शन का अवतरण होता है। इसप्रकार "जाननहार जानने में आता है" वह निजानंद मधुबन की माधुर्यता है।

"जाननहार जानने में आता है" वह ऐसा सुरंग का भूगर्भ मार्ग है कि जिसका दूसरा दरवाजा सीधा मोक्ष में खुलता है। "जाननहार जानने में आता है" वह ऐसे गंभीर सागर का गंभीर सूत्र है कि जिसमें से सैंकड़ों सिद्धांत निकलते हैं। हे पूज्य भाईश्री! आपने तो सिद्धांतों की गंगोत्री बहाई है। जो मात्र स्वसंवेदन प्रत्यक्ष स्वभाव है; ऐसे अकथ्य स्वभाव के विधानों को विदित करके "जाननहार जानने में आता है" के ज्ञान दीपक प्रज्वलित किये हैं।

संत कहते हैं कि: कदाचित् तू स्वभाव तक न पहुँच सकता हो तो हम तुझे स्मरण करने की कहाँ मना करते हैं!

स्मरण -> "जाननहार जानने में आता है"

स्वभाव -> "मैं जाननहार हूँ"

"जाननहार जानने में आता है" उसमें दूर रहकर आत्मा को जानता था; परंतु "मैं जाननहार हूँ" उसमें जाननहार होकर जाननहार को जाना। "जाननहार हूँ और जाननहार ज्ञात होता है" उस बात की कितनी कीमत भासित हुई होगी! उसमें भगवान आत्मा कितना ऊर्ध्व होता हुआ दिखता होगा! उसमें कितनी चोट लगती होगी!! कि: ये महापुरुष जीवन के अंत समय तक दो बातें ही करते रहे।

"मैं जाननहार हूँ; करनेवाला नहीं हूँ।"

"जाननहार जानने में आता है, वास्तव में पर जानने में नहीं आता।"

ये स्वानुभव में से आये हुये भाव आगम में से एवं पूज्य श्रीसद्गुरुदेव की परमागम प्रवचन धारा

में से सहज मिल जाते हैं क्योंकि **"अनंत ज्ञानियों का अभिप्राय एक ही होता है।"**

उन दिव्य पुरुष की दिव्य वाणी की एक झलक:-

जाननहार जाननहार की पर्याय को ही प्रकाशित करता है रागादि को नहीं। (अज्ञानी) तो भी मुड़ता नहीं.... बाहर ही बाहर में नजर है।

* आहाहा! अभी तो बाहर (में) 'करने' की नजर; एक बात।

* फिर बाहर जानने की नजर; दो बात।

* फिर मेरे में जानने में आता है वह यह... जानने में आता है! तीसरी बात।

* यहाँ कहते हैं मेरे में जानने में आता है वह मैं ज्ञात होता हूँ; वह चौथी बात।

भाषा तो एकदम सादी है और भाव समझ में आये ऐसे हैं।

(श्री समयसार गाथा २९४ के प्रवचन में से। तारीख ६-१२-७९ नंबर ३६१)

श्री कुंदकुंदप्रभु ने १७, १८ गाथा में कहा कि : जाननहार को जान! उन्होंने विशेष पर्यायभाव से बात कही। जबकि उसी गाथा में अमृत प्रभु ने कहा कि : "तुझे जाननहार जानने में आ ही रहा है।" उन्होंने सामान्य ज्ञान स्वभाव की वस्तुस्थिति से बात की। ज्ञान में निरंतर जाननहार ज्ञात होता है वह स्वभाव बताया। वैसे ही हे कहानलाल! आपश्री ने **"जाननहार जानने में आता है"** का मौसम प्रस्फुटित किया है। सीमंधर भगवान की दिव्यध्वनि का स्वर हम सबको प्राप्त हुआ है।

पुनः श्री कुंदकुंदप्रभु ने समयसार शास्त्र में कर्ताकर्म अधिकार विशिष्ट; सबसे बड़ा और स्पेशल लिखा है। उसके जैसा कर्ताकर्म का अधिकार जिनागम में अन्यत्र दूसरी जगह देखने को मिलना मुश्किल है। वैसे ही, हे कहानलाल! आपश्री ने पंचम काल में **"जाननहार जानने में आता है"** के युग का सर्जन किया है। आपश्री ने जो गाढ़ परमामृत बहाया है वह अद्वितीय और अजोड़ है। इस काल में गुप्त से गुप्त रहस्यों का उद्घाटन हुआ है।

मुझे निरंतर "जाननहार ही जानने में आता है, वास्तव में पर जानने में नहीं आता" वह कोई साधारण बात नहीं है। यह असाधारण बात है। यह अनुपम विधि आपश्री ने भव्य जीवों को निशंकरूप से... निर्भयपने प्रदान की है।

वास्तव में पर ज्ञात नहीं होता उसमें पर का प्रतिभास तिरोभूत होता है और दृष्टि में से अभाव हो जाता है। ज्ञान में सामान्य का आविर्भाव होने पर विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान अभाववत् हो जाता है। इसके ऊपर से चार सिद्धांत फलित होते हैं।

(१) वास्तव में पर जानने में नहीं आता उसमें पर के प्रतिभास का स्वीकार होता है।

(२) पर का तो मात्र प्रतिभास ही होता है- ऐसा विश्वास आने से पर का लक्ष छूट जाता है।

(३) "मुझे जाननहार जानने में आता है" ऐसा विश्वास आने से प्रतिभासरूप पर्याय का भी लक्ष छूट जाता है।

(४) "मैं जाननहार हूँ" उसमें "जाननहार जानने में आता है" ऐसे भेद का लक्ष भी छूट जाता है।

ऐसे ब्रह्मसूत्रों की रचना सहज ही हो गई है। इन वचनामृतों में निजानंद के झरने बहाये हैं।

जिज्ञासा :- ज्ञान कब पर को जान सकता है?

समाधान :- ज्ञान पर से तन्मय हो तो ज्ञान पर को जान सकता है। यदि ज्ञान पर के सन्मुख हो तो पर को जान सकता है। ज्ञान पर को जानने जाए तो तो आत्मा का नाश हो जाये और ज्ञान में पर वस्तु जानने में आये तो ज्ञान का नाश हो जाये। **इसलिए वास्तविकता यह है कि ज्ञान पर से तन्मय भी नहीं होता और पर के सन्मुख भी नहीं होता। ज्ञान ज्ञायक की तादात्म्यता कभी भी छोड़ता नहीं, इसलिए वास्तव में ज्ञान पर को नहीं जानता।**

ज्ञान का स्वभाव एक समय भी यदि स्व को जानना छोड़े, तो तो पर को जाने! लेकिन एक समय मात्र भी स्व को जानना छोड़ता नहीं अतः ज्ञान वास्तव में पर को जानता ही नहीं है। इसीप्रकार लक्षरूपता-वह ज्ञान का मूल स्वभाव होने से ज्ञान वास्तव में पर को नहीं जानता। ज्ञान की स्वच्छता में कोई भी पदार्थ प्रतिबिंबित हुए बिना रहता नहीं। इसलिए वास्तव में पर को जानता नहीं। पुरुषार्थ सिद्धि में मंगलाचरण में कहा है कि : **"दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।"**

इससे सिद्ध होता है कि बहिर्मुख ज्ञान में भी वास्तव में पर जानने में नहीं आता; उसीप्रकार अंतर्मुख ज्ञान में भी **वास्तव में** पर जानने में नहीं आता। श्री समयसार जी शास्त्र में कहा है कि : आत्मघाति! आत्मा को तो जानता नहीं; किन्तु आत्मा के असाधारण लक्षण को भी नहीं जानता। ज्ञान के असाधारण लक्षण को जाने तो भी आत्मज्ञान उदित हो जाए वैसा यह सर्वस्व ज्ञान स्वभाव है।

आपश्री ने अनंत करुणा करके **वास्तव** शब्द का रहस्य प्रकाशित किया है। यह बात दांडी पीटकर कही है। वास्तव में **पर जानने में नहीं आता अपितु पर का प्रतिभास होता है; उसमें ज्ञाता-ज्ञेय की भ्रांति का निषेध होता है। "मैं जाननहार हूँ और जाननहार ही ज्ञात होता है" उसमें ज्ञाता ज्ञेय का भेद विलय को प्राप्त होकर अभेद का अभेदभाव से अनुभव होता है।**

इसप्रकार ज्ञान स्वभाव का गहन रहस्य आपने न समझाया होता तो प्रतिभास का स्वरूप समझ में न आता और लक्ष का स्वरूप भी समझ में न आता। लक्ष के स्वरूप को समझे बिना 'पर को जानता नहीं' ऐसा निषेध न आता। और प्रतिभास के स्वरूप को समझे बिना भेदज्ञान की विधि में किस तरह से आता! और भेदज्ञान की विधि में आए बिना स्वानुभवमयी ज्ञानत्व किसप्रकार से प्रकट होता?

(१) **"शॉर्ट एंड स्वीट"** ऐसा यह छोटा सा सूत्र अर्थात् पूज्य भाईश्री का हृदय। इस सूत्र के अंदर गहराई, माधुर्यता और गहनतारूप सिद्धांतों का सागर कैसा लहरा रहा है!

* **"मैं जाननहार हूँ" वह ध्रुव दल की गहराई है।**

* **"जाननहार ज्ञात होता है" वह आत्मा के ज्ञान की माधुर्यता है।**

* **"वास्तव में पर जानने में नहीं आता" वह पराकाष्ठारूप अध्यात्म की गहनता है।** इस छोटे से सूत्र में बारह अंग किस तरह से समाये हुये हैं उसकी एक झलक... **"अमृत वर्षा"** में आलेखित की हुई है।

(२) जीव प्रमाण के बाहर जाता तो पर से एकत्वबुद्धि। जीव प्रमाण में अटकता है तो पर्याय से एकत्वबुद्धि, तो क्या करना? द्रव्य के प्रमाण में से द्रव्य के निश्चय में आना। पर्याय के प्रमाण में से पर्याय

के निश्चय में आना। वह किस प्रकार से आना? उसका विस्तृत वर्णन "अस्ति-नास्ति भेदज्ञान द्वार" में लिया है। अनादि काल से अज्ञानी प्राणी को प्रमाण का पक्ष होने से... प्रमाण का ही लक्ष रहा करता है। अब प्रमाण में से नय में किस प्रकार आना और नयपूर्वक प्रमाण ज्ञान किस प्रकार हो- ऐसा आगम-आध्यात्म का सुंदर विवेचन इस भेदज्ञान द्वार में लिया हुआ है।

मेरी प्रज्ञा की अल्प योग्यता होते हुये भी एक नम्ररूप से साहसयुक्त प्रयास किया है। भव्य आत्माओं को संसार परिणाम से हटाकर क्षणभर में मोक्षमार्ग के सन्मुख सहजरूप से ले जाये ऐसी सचोट बात धर्म-धुरंधर आचार्यों के, ज्ञानियों के, आगम के आधार से प्रस्तुत की है। आशा है कि इस प्रकरण से भव्यों को भेदज्ञान ज्योति में तीक्ष्णता और बलवंतता प्राप्त होगी।

हे पूज्य भाईश्री! आपकी दिव्यवाणी में आता हुआ एक-एक न्याय स्वानुभवमयी अतीन्द्रिय धारा का अभिषेक प्राप्त करके ही मुखरित होता था। आपका जीवन ही "जाननहार जानने में आता है" का साक्षात् ज्वलंत उदाहरण है। एक-एक वचनामृत जैन दर्शन के मूल सिद्धांतों को मूल में से उजागर करता है। "जाननहार जानने में आता है" वह आनंद का मूल स्रोत है; इसलिए "जाननहार जानने में आता है" के एक-एक वचनामृत में से आनंद के झरने झरते हैं।

लौकिक में तो रत्नाकर को अंजुलि के द्वारा, भास्कर को दीपक के द्वारा, दिव्यध्वनिरूप सरस्वती को मंगलाचरण के द्वारा अर्घ्यावली अर्पित की जाती है। परंतु ज्ञानमार्तण्ड कहानलाल! आपको मैं अल्पप्रज्ञ किस प्रकार से अर्घ्यावली अर्पित करूँ?

"जाननहार जानने में आता है" के धर्म निर्झर बहानेवाले कहानलाल! आपश्री तो द्रव्य से और भाव से "जाननहार जानने में आता है" में प्रतिष्ठित हो। इसलिए "जाननहार जानने में आता है" ऐसे अभेदभाव से परिणमना वही वास्तविक अर्घ्यावली अर्पित की हुई गिनी जाती है। अंत में सभी को जाननहार जानने में आये वही जय जिनेंद्र।

बा. ब्र. शोभनाबेन जे. शाह

(राजकोट)

यहाँ तो कहते हैं : भगवान! तू पर को
जानता ही नहीं। भगवान लोकालोक को
जानते हैं ऐसा कहना वह तो असद्भूत
व्यवहार है। भगवान! तू पर को जानता ही नहीं।
(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन, प्रवचनसार गाथा ११४ में से)

आ...हा...हा...! वे (कहते हैं कि) परद्रव्य का कर्ता न माने
तो दिगंबर नहीं ; यहाँ तो कहते हैं
कि...पर को जाननेवाला हूँ ऐसा माने वह दिगंबर नहीं।
(पूज्य गुरुदेवश्री के दि. २९-०९-७७ के प्रवचन में से)

**"मंगलम् भगवान् वीरो, मंगलम् गौतमोगणी!
मंगलम् कुंदकुंदार्यो, जैन धर्मोस्तु मंगलम्!"**

अमृतवर्षा

**जाननहार के आश्रय से जाननहार को जाननेवाले;
जाननहार जानने में आता है के ज्योतिर्ध;
जाननहार जानने में आता है के जोशीले;
जाननहार जानने में आता है के पारगामी;
पूज्य "भाईश्री" लालचंदभाई जयवंत वर्तो... जयवंत वर्तो।**

"जाननहार जानने में आता है" के पुरस्कर्ता, हे पूज्यवर श्री! आपने कुंद अमृत कहान की श्रुत अमृत सरिता में से, प्राभृत भाजन को ज्ञान मंजूषा में अभिसिंचित करके, परमागम की पवित्र धारा का ब्रह्म मृदु प्रासुक नीर अर्थात् "जाननहार जानने में आता है, वास्तव में पर जानने में नहीं आता" का यह सद् बोधात्मक अर्चन भेंट किया है जो भव्य जीवों के कर्णरूपी अंजलि के लिए परमामृत है। ऐसे निकृष्टकाल में मधुरम् से मधुरम् दक्ष तत्वज्ञान की मूसलधार अमृत वर्षा बरसाई है। इस परमोत्कृष्ट ज्ञानामृत को जो धारण करेगा वह नियम से अल्प समय में परमानंदमयी सुधारस का भाजन होगा और अल्पकाल में कैवल्य पवित्रता में निःशेषरूप से निमग्न होगा।

हे कहानलाल! परमागम रत्नाकर का मंथन करके आपश्री ने दिगम्बर प्रांगण में जैनदर्शन की अनेक निधियों की रत्नावली बरसाई है। प्रति समय उद्योत होते हुए ज्ञान मार्तंड में से नए-नए उन्मेषों का अमृत सहज तीर्थपने को प्राप्त हुआ है। ऐसे ही धर्म का अधिष्ठान स्थापित करती हुई और चित्तभूमि को मनोहर करती हुई आपकी दिव्यवाणी जयवंत वर्तती है। इस सरस्वती की सर्वज्ञ के साथ सीधी संधि बुनी हुई है। इसका मूल बहुत बहुत गहरा है। भावलिंगी संतो के पीछे वन जंगल में भ्रमण करते हुए जो बात मिलनी दुर्लभ है, वह बात हमें घर बैठे ही प्राप्त हुई है।

"जाननहार जानने में आता है" वह पूर्णता के लक्ष से ही प्रस्थान है। पुनः "जाननहार जानने में आता है" वह पूर्णता के लक्ष से ही अंतः स्थान है। इसलिए सर्व जिनेंद्र भगवान की दिव्यध्वनि का संक्षिप्त सार और हमारे निज स्वसंवेदन का सार इतना ही है कि : **"मैं जाननेवाला हूँ करनेवाला नहीं, जाननहार जानने में आता है वास्तव में पर जानने में नहीं आता।"** इसमें बारह अंग और चौदह पूर्व के सार को संक्षिप्त करने की पराकाष्ठा रही हुई है। और इसके साथ श्रीमद् जी का सूत्र याद आता है कि : **"आगम का मर्म ज्ञानियों के हृदय में समाया हुआ है।"** इस सूत्र को आपश्री ने परिपूर्णरूप से सत्यार्थरूप से और विशदरूप से सार्थक किया है।

(१) "जाननहार जानने में आता है" सूत्र में कितने भाव समाये हुए हैं वह बतानेवाले

पूज्य भाईश्री :

जैसे समयसार की छठवीं गाथा के पहले पैराग्राफ में 'ज्ञायक' शब्द है; और दूसरे पैराग्राफ में भी 'ज्ञायक' शब्द आया। पहले पैराग्राफ का 'ज्ञायक' और दूसरे पैराग्राफ का ज्ञायक, उन दोनों ज्ञायक के वाच्य में अंतर है। निर्विकल्प ध्यान के काल में अंतर अंतररूप रह गया और अंतर का दिखना बंद हो गया यही जैनदर्शन की सुंदरता है।

तदुपरांत संपूर्ण समयसार में भगवान आत्मा को 'ज्ञानमात्र' कहते आये हैं। "ज्ञानमात्र आत्मा" कहने पर दृष्टि का विषय भी होता है और "ज्ञानमात्र आत्मा" कहने पर (अभेद ज्ञेय) ज्ञान का विषय भी होता है। पर्याय की नास्ति, ऐसा "ज्ञानमात्र आत्मा" दृष्टि का विषय है। ऐसे ध्रुव द्रव्य की जहाँ दृष्टि हुई वहाँ दृष्टि और दृष्टि का विषय कथंचित् अभिन्न हुआ ऐसा ज्ञान परिणाम सहित आत्मा वह भी "ज्ञानमात्र" है। इसप्रकार अनुभव का विषय "ज्ञानमात्र" और अनुभव हुआ वह भी "ज्ञानमात्र"। "ज्ञानमात्र" में ध्येय और ज्ञेय के भेद समा जाते हैं। उस ही प्रकार से...

"जाननहार जानने में आता है" उस एक ही सूत्र में एक ही समय ध्येयरूपता और ज्ञेयरूपता देखने को मिलती है। वह किस प्रकार से... वह देखते हैं।

* **पहला अर्थ :-** "जाननहार" अर्थात् अनंतगुणों का अभेद एकत्व ऐसा सामान्य ज्ञायक। "जानने में आता है" अर्थात् जो ध्येय है वही उपादेयभूत ज्ञेय है। इसप्रकार जाननहार और जानने में आता है- उसमें मात्र दृष्टि का विषय ध्रुव ज्ञायक ही आता है।

* **दूसरा अर्थ :-** "जाननहार" अर्थात् निष्क्रिय परमात्मा; और वह किसके अंदर जानने में आता है? वह वर्तमान वर्तते हुए सामान्य उपयोग लक्षण में तादात्म्यपने सभी को ज्ञात होता है। इसप्रकार यह कर्मोपाधि रहित अनादि अनंत निरपेक्ष प्रमाणज्ञान का विषय ऐसा ज्ञायक हुआ।

* **तीसरा अर्थ :-** "जाननहार जानने में आता है" यह अनादि अनंत वस्तुस्थिति है। जाननहार अर्थात् सामान्य ज्ञायक और जानने में आया अर्थात् विशेष शुद्धोपयोगरूप परिणाम। विशेष ज्ञानपरिणाम में वस्तु का स्वीकार होने पर 'ध्येयपूर्वक ज्ञेय हुआ'। "मैं जाननहार हूँ" ऐसा विशेष में परिणामन हुआ। जाननहार भी स्वयं और जानने में आया भी स्वयं- ऐसा अनुभव हुआ। यह अध्यात्म प्रमाणज्ञान का विषय हुआ। यहाँ प्रयोजन सिद्ध हुआ।

इसप्रकार "जाननहार जानने में आता है" उसमें एक ही समय में एक साथ कितने भाव समाए हुए हैं वह देखते हैं।

"जाननहार जानने में आता है" वह श्रद्धा का ऐक्य है। (अनंत गुणों से अभेद मात्र सामान्य।) "जाननहार जानने में आता है" वही ज्ञान का ऐक्य है। (द्रव्य गुण और निर्मल पर्याय से अभेद।) इसलिए "जाननहार जानने में आता है" ऐसे शुद्धनय के बिना ध्येय की सिद्धि नहीं होती। वैसे ही "जाननहार जानने में आता है" ऐसे अभेदनय के बिना ज्ञेय की सिद्धि नहीं होती। इसप्रकार "जाननहार जानने में आता है" उसमें एक ही समय में शुद्धनय और अभेदनय दोनों समा जाते हैं।

"जाननहार जानने में आता है" उसमें एक ही समय में द्रव्य का निश्चय और ज्ञान पर्याय का निश्चय समा गया। "जाननहार जानने में आता है" उसमें रहितपूर्वक सहित एक समय में हुआ।

"जाननहार जानने में आता है" उसमें सम्यक् एकांतपूर्वक सम्यक् अनेकांत समा गया। "जाननहार जानने में आता है" उसमें निश्चय स्वप्रकाशकपूर्वक निश्चय स्वपरप्रकाशक आ गया। **"जाननहार जानने में आता है"** उसमें निर्विकल्प निश्चयनय, निर्विकल्प व्यवहारनय और निर्विकल्प प्रमाण सभी समा गए। **"जाननहार जानने में आता है"** उसमें समयसार और प्रवचनसार एक ही समय में जानने में आ गए। इसप्रकार 'ध्येयपूर्वक ज्ञेय' में जैनदर्शन का संपूर्ण सार समाविष्ट हो गया।

इसलिए 'जाननहार जानने में आता है' वह जीव मात्र का जाग्रत जिनालय है और 'जाननहार जानने में आता है' वही तो जैनशासन का चैतन्य देवता है और 'जाननहार जानने में आता है' वह पवित्र मोक्षमार्ग है और आद्योपान्त पथप्रदर्शक के रूप में सर्वोत्कृष्ट महामंत्र है।

(२) 'मैं जाननहार हूँ' और 'जाननहार जानने में आता है' की अनमोल निधि के प्रकाशक पूज्य भाई श्री :

जीवमात्र को जाननहार ही ज्ञात हो रहा है ऐसा उसका स्वभाव है। यह स्वभाव किसी के द्वारा किया नहीं जाता और न किसी के रोकने से रुकता है। क्योंकि स्वभाव है न? वह तो अनादि अनंत होता है न? यह प्रक्रिया पारिणामिक भाव से है। जाननहार जानने में आता है वह त्रिकाल भी है और वर्तमान भी है इसलिए वह प्रतिच्छंद के स्थान पर है।

प्रतिच्छंद -> "मैं जाननहार हूँ" तो पर्याय में आया कि: "मैं जाननहार हूँ।"

प्रतिच्छंद -> "जाननहार जानने में आता है" तो आया कि: "मुझे जाननहार जानने में आता है।" इसलिए जिस वस्तु को जाना, वह तो जाननहार है ही; लेकिन जिसने जाना वह भी जाननहार है। ज्ञान पर्याय में निश्चय, व्यवहार, प्रमाण आदि के विशेष...भेद... हों तो हों! परंतु "मैं तो जाननहार हूँ।"

मेरा कोई विषय ही नहीं है, क्योंकि मैं ज्ञानतत्व नहीं हूँ, "मैं तो (ज्ञायक) जाननहार हूँ"; अर्थात् मैं स्वयं विषयरूप जाननहार हूँ, "फिर जानन क्रिया में विषय और विषयी का भेद भी नहीं दिखता ऐसा जाननहार हूँ।" एकाकार एकरस...जाननहार हूँ; समरस...जाननहार हूँ; अभेद जाननहार हूँ।

अब निश्चय से देखो तो जाननहार और व्यवहार से देखो तो भी जाननहार; और प्रमाण से देखो तो भी जाननहार। सभी अपेक्षाओं से जाननहार; और सभी अपेक्षाओं से रहित भी जाननहार। "मैं स्वभाव से ही निरपेक्ष जाननहार हूँ।" इसप्रकार जाननहार तो जाननहार है।

परोक्ष अनुमान में जाननहार, प्रत्यक्ष अनुभव में जाननहार, ज्ञेयाकार अवस्था में जाननहार, स्वरूप प्रकाशन की अवस्था में जाननहार। द्रव्य से जाननहार, गुण से जाननहार, पर्याय से भी जाननहार। वस्तुस्थिति से जाननहार, परिस्थिति में भी जाननहार। अभेद से जाननहार, भेद से जाननहार, भेद-अभेद से जाननहार। इसप्रकार जाननहार ज्ञायकपने रहते हुए "जाननहार जानने में आता है।"

जिज्ञासा : "जाननहार जानने में आता है" वह विकल्प है न?

समाधान : नहीं। "जाननहार जानने में आता है" वह विकल्प नहीं है वरन् स्वभाव है। यह तो विकल्प है! यह तो भेद है- ऐसा क्यों दिखता है? तेरी नीयत खराब है। यह मेरा स्वरूप है- ऐसा क्यों नहीं दिखता?! **यह स्वभाव है, इसप्रकार भावभासन में लेकर स्वभाव में निःशंक हो जा! यह**

साधारण वाक्य नहीं है। महामुनि धर्मकीर्तिस्थंभ श्रुतकेवली के ये वचन हैं, सभी लोग इसकी कीमत करना।

जिज्ञासा : "जाननहार जानने में आता है" वह सविकल्प है या निर्विकल्प?

समाधान : "जाननहार में न सविकल्प दशा है न निर्विकल्पदशा है। ज्ञानपर्याय का स्वभाव निर्विकल्प है और साकार सविकल्प स्वभाव भी है। मैं तो अनादि अनंत त्रिकाल मुक्त जाननहार हूँ। एवं सभी को जाननहार जानने में आता है वह निर्विकल्पपने जानने में आता है; सहजपने जानने में आता है; उसके लिए विकल्प की क्या जरूरत है? ऐसे निर्विकल्प स्वभाव को जानने पर निर्विकल्प होता है। **निर्विकल्प स्वरूप की बात....! वचनातीत स्वभाव की बात....! वचन में आ गई है।** "जाननहार जानने में आता है और जाननहार हूँ" यह प्रयोग की पराकाष्ठा है। "जाननहार जानने में आता है" उस वचन के ऊपर, उस भेद के ऊपर जाने की सख्त मनाही है। "जाननहार जानने में आता है" उस वाच्य के ऊपर जाना।

मैं जाननहार हूँ: जाननहार को ही जानता हूँ; जाननहार ही मुझे जानने में आता है। जाननहार जानने में आता है ऐसा भी मुझे जानने में आता है। ये चारों भाव किसी भी क्रम के बिना, विकल्प बिना, भेद के बिना एक समय में स्वानुभव में अनुभवाते हैं। यदि जाननहार जानने में आता है ऐसा ज्ञात न हो तो ज्ञान के सविकल्प स्वभाव की सिद्धि नहीं होती।

"जाननहार जानने में आता है" उसे जानते रहना ही अभेद की अनुभूति है और अभेद ही परमार्थ है। क्योंकि अभेद है वह परिणमनरूप भी है। परंतु ऐसे अभेद को-परमार्थ को किसी भी वचन के द्वारा कथन में कहना वह तो व्यवहार हो गया। कथन भेद का ही होता है; अभेद का कथन नहीं होता। इसप्रकार ज्ञानियों के अभिप्राय को समझना चाहिए। संत भेद का आश्रय कहाँ कराते हैं? जाननहार को ही जानता है- ऐसा परिणमन होते हुए भी भेद नहीं है। "जाननहार जानने में आता है" उसमें जाननहार... जाननहार को जाननेरूप परिणम जाता है। इसप्रकार निष्कर्ष यह है कि "जाननहार जानने में आता है" और "मैं जाननहार हूँ" वही प्रयोग है और वही अनुभवन है।

(३) "जाननहार जानने में आता है वास्तव में पर जानने में नहीं आता।" इस वास्तव की वास्तविकता का अपूर्व हृदय प्रकाशित करनेवाले पूज्य भाईश्री :

श्री समयसार की ग्यारहवीं गाथा जैसे जैनदर्शन का प्राण है वैसे ही "वास्तव में" पर को नहीं जानता उसमें "वास्तव" शब्द आगम और अध्यात्म के (मिलन) अभिसार का अंग है और साथ ही जैन दर्शन का प्राण है। इसमें प्रवचनसार और समयसार के समन्वय की समतुला ज्वलंत रहती है। साधक हो या फिर सिद्ध परमात्मा ही क्यों न हों! उनकी ज्ञान पर्याय में जो निश्चय-व्यवहार है उसकी सिद्धि इस "वास्तव" शब्द से ही होती है न! इसप्रकार "वास्तव" शब्द जिनागम की गहरी और रहस्यमयी नींव है, जिसके ऊपर "जाननहार जानने में आता है" का जिनालय खड़ा है।

अब, 'पर जानने में नहीं आता' ऐसा न कहकर "वास्तव में पर जानने में नहीं आता" (ऐसा कहा), उसमें "वास्तव" शब्द किसलिए लगाया? इस सूत्र में "वास्तव" शब्द की उपयोगिता क्या है?

"मैं जाननहार हूँ; करनेवाला नहीं हूँ।"

जाननहार जानने में आता है; वास्तव में पर जानने में नहीं आता।"

उपरोक्त सूत्र को स्वर्ण अक्षरों में मढ़ने का भाव आत्मार्थी श्री शांतिभाई झवेरी को आया तब उन्होंने पेंटर से इस सूत्र को पूज्य भाईश्री के फोटो के अंदर समाहित करने के लिए कहा। तब पेंटर ने शांतिभाई से कहा कि फोटो में पूरा सूत्र सेट हो जायेगा यदि आप 'वास्तव' शब्द को निकाल दो तो! इस तरह से (१) मैं जाननहार हूँ (२) मैं करनेवाला नहीं हूँ। (३) जाननहार जानने में आता है। (४) पर जानने में नहीं आता। इस प्रकार व्यवस्थित बैठ सकता है।

उसके बाद श्री शांतिभाई ने पूज्य "भाईश्री" से फोन से पूछा कि : भाई! 'वास्तव' शब्द फोटो में सेट नहीं होता है तो उसको निकाल दें? तब पूज्य भाईश्री ने उत्तर दिया कि: '**वास्तव**' शब्द किन्हीं भी संयोगों में नहीं निकलेगा। उसमें ही गहन गूढ़ता और मर्मज्ञता रही हुई है। यदि तुम '**वास्तव**' शब्द निकाल दोगे तो प्रतिभास ही चला जाएगा तो फिर भेदज्ञान की कला हाथ में नहीं आएगी। '**वास्तव में**' पर जानने में नहीं आता उसमें सकल दोष का परिहार होकर आत्मानुभव होता है। पर का प्रतिभास अनुभव में बाधक नहीं है, लेकिन पर के प्रतिभास का लक्ष बाधक है।

ज्ञान '**वास्तव में**' पर को नहीं जानता उसमें ही जैनदर्शन का अंदर का निश्चय-व्यवहार सिद्ध हो गया। अब यदि ज्ञान प्रतिभासरूप ज्ञेयाकार धर्म को भी न जानता हो तो ज्ञानी का व्यवहार झूठा पड़ जाता है। जैसे कि श्रेणिक महाराज ८४ हजार वर्ष के बाद तीर्थकर होनेवाले हैं वह केवलज्ञान में आया है न? है तो यह व्यवहार! लेकिन... यह व्यवहार भी व्यवहाररूप से सच्चा है, झूठा नहीं है। **यदि कोई इस व्यवहार को उड़ाएगा तो फिर केवली के ज्ञान में जो आया वह झूठा ठहरेगा।**

श्री समयसारजी गाथा १२ में प्रतिभास की सिद्धि करने के लिए जाना हुआ प्रयोजनवान कहा है। इसप्रकार सिद्ध होता है कि **वास्तव** शब्द प्रतिभास के स्वरूप को सिद्ध करने के लिए है। **और प्रतिभास में मात्र प्रतिभास ही समझाना है।** क्योंकि जो साधक हुआ उसे उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है, जो संस्कृत में "**परिज्ञायमानः तदात्वे प्रयोजनवान**" लिखा है। इसप्रकार '**वास्तव में**' पर जानने में नहीं आता उसमें ही प्रतिभास की अपूर्व सिद्धि हो गई।

आत्मार्थी जीवों को ऐसा प्रश्न हो सकता है कि आप '**वास्तव में** पर जानने में नहीं आता' वह आप किस न्याय से कहते हो? उसका लॉजिक क्या है?

(१) **न्याय:** ज्ञान पर में तन्मय नहीं होता उस न्याय से सिद्ध होता है कि ज्ञान वास्तव में पर को नहीं जानता। ज्ञान ज्ञायक से तादात्म्यपना छोड़ता ही नहीं है इसलिए ज्ञान ज्ञायक को ही जानता है। ज्ञान परज्ञेयों में तद्रूप नहीं होता इसलिए ज्ञान '**वास्तव में**' पर को नहीं जानता। आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान आत्मा को ही जानता है अतः ज्ञान वह आत्मा ही है।

(२) **न्याय:** वास्तविकरूप से तो सभी को ज्ञान जानने में आता है। अब पर के सन्मुख होकर जानने का निषेध है, लेकिन ज्ञान की स्वच्छता का निषेध नहीं है। यह बात अप्रचलित है। पर का लक्ष करके जानता है उसमें बहिर्मुखता है और परज्ञेय मात्र प्रतिभासित होते हैं उसमें तो ज्ञान ज्ञेयों से व्यावृत्त होकर अंतर्मुखाकार परिणम जाता है। इसलिए प्रतिभास को मुख्य रखकर फिर पर को जानता है... पर जानने में आता है... ऐसे जिनवाणी के कथन का आशय सम्यक् प्रकार से समझ में

आता है। यह रहस्य न समझे तो ज्ञान बहिर्मुख ही रहता है।

(3) **न्यायः 'वास्तव में'** में पर का प्रतिभास रह जाता है और सामान्य ज्ञायकभाव का लक्ष हो जाता है। पर का-लोकालोक का प्रतिभास तो स्वच्छता में रह जाता है परंतु पर का लक्ष छूट जाता है। लक्ष लोकालोक के ऊपर हो तो अज्ञान (है)! लक्ष आत्मा का और प्रतिभास दो का होता है। केवली के समान साधक को भी प्रतिभास दो का होता है और लक्ष एक ज्ञायक का होता है। अज्ञानी को प्रगट होते हुए उपयोग में प्रतिभास दो का है लेकिन लक्ष एकांतरूप से पर का है। इसप्रकार जीवमात्र को प्रतिभास दो का होते हुए भी उसका लक्ष कहाँ है? पर के ऊपर है? या स्व के ऊपर है? उसके ऊपर बंधमार्ग मोक्षमार्ग निर्भर है।

इसप्रकार **'वास्तव में'** पर जानने में नहीं आता' उसमें जिनागम के ज्ञानस्वभाव का एवं ज्ञान सामर्थ्य का समस्त रहस्य प्रकाशित हुआ। आगम की बात का स्वीकार और आगे बढ़ने पर उस प्रतिभासरूप, स्वपरप्रकाशक व्यवहाररूप पर्याय को भी जानने का निषेध होने पर ही स्वसन्मुखता का उत्पाद होता है।

* 'जाननहार जानने में आता है और वास्तव में पर जानने में नहीं आता' ऐसा कहकर पर का प्रतिभास रखा है और पर का लक्ष छुड़ाया है।

* **'वास्तव में'** पर जानने में नहीं आता उसमें कोई भी परपदार्थ हेयपने या स्वज्ञेयपने जानने में आते ही नहीं।

* **'वास्तव में'** पर जानने में नहीं आता उसमें पर के प्रतिभास का भी लक्ष छूट जाता है।

* परपदार्थ ज्ञान का ज्ञेय नहीं है इसलिए **'वास्तव में'** पर को जानता नहीं है।

* परपदार्थ को जाननेवाला ज्ञान नहीं है इसलिए **'वास्तव में'** पर को जानता नहीं है।

* ज्ञेयाकार अवस्था में ज्ञायक जानने में आता है इसलिए **'वास्तव में'** पर को नहीं जानता।

* "जाननहार जानने में आता है" और **'वास्तव में'** पर जानने में नहीं आता, उसमें तो समयसार और तत्वार्थ सूत्र दोनों समा गए।

* **'वास्तव में'** पर जानने में नहीं आता उसमें पर का प्रतिभास तिरोभूत हो जाता है और "जाननहार जानने में आता है" उसमें पर के प्रतिभासरूप लक्ष का भी निषेध हो जाता है और जो प्रतिभासरूप ज्ञायक था वह आविर्भूत हो जाता है।

* **'वास्तव में'** पर को नहीं जानता उसमें पर का लक्ष नहीं है, तो पर का प्रतिभास "प्रतिभास" कहलाता है। यदि पर का लक्ष हो तो वह प्रतिभास 'प्रतिभासरूप' कहाँ रहा? वह तो अज्ञान हो गया।

* **'वास्तव में'** पर जानने में नहीं आता उसमें पर को जानने के पुरुषार्थ के बिना पर जानने में आ गया। क्योंकि स्वच्छता उसका स्वभाव है।

* परपदार्थ भावेन्द्रिय का विषय होने से **'वास्तव में'** पर को जानता नहीं है।

* **'वास्तव में'** अर्थात् सत्यार्थरूप से, सत्य रीति से बात तो इतनी ही है कि: 'वास्तव में' पर को नहीं जानता तो इन्द्रियज्ञान संकुचित हो जाता है और अतीन्द्रिय ज्ञान प्रगट होता है। इन्द्रियज्ञान को जीतने का यह मंत्र है।

* जहाँ 'वास्तव में' पर को नहीं जानता, निषेध किया वहाँ तो ज्ञान की पर्याय का निश्चय प्रगट होकर निश्चयपूर्वक का व्यवहार प्रगट हुआ।

* 'वास्तव में' ज्ञानी अज्ञानी किसी को बाह्य पदार्थ सीधे (डायरेक्ट) ज्ञात होते ही नहीं। किसी काल में ज्ञात नहीं होते। सभी को ज्ञात होता है ज्ञान और ज्ञायक।

* 'वास्तव में' पर ज्ञात नहीं होता उसमें पर का प्रतिभास रह गया और पर के प्रतिभास का भी लक्ष छूट गया और स्व का लक्ष हो गया। यह केवल लक्षरूप ज्ञान का स्वरूप है।

* 'वास्तव में' पर ज्ञात नहीं होता अर्थात् प्रतिभास होता है, उसे उड़ाया नहीं जा सकता। प्रतिभास होने पर भी उसका लक्ष पलट गया तो अनुभव हो गया।

* ज्ञान, स्वभाव से ही 'वास्तव में' पर को जानता नहीं है एवं ज्ञान का स्वभाव 'वास्तव में' पर को जानने का नहीं है - यह बात स्वीकार किए बिना सम्यग्दर्शन प्रगट होनेवाला नहीं है।

* छह द्रव्य ज्ञात होते हैं, उसमें पूज्य गुरुदेवश्री ने भी प्रतिभास रखा है। फिर.... 'वास्तव में' छह द्रव्य जानने में नहीं आते, उसमें परज्ञेय का लक्ष छुड़ाया है। फिर... छह द्रव्य ज्ञात होते हैं ऐसी पर्याय भी ज्ञात नहीं होती, इसमें पर्याय का लक्ष छुड़ाया है। फिर... 'वास्तव में' तो "जाननहार जानने में आता है", इसप्रकार जाननहार का लक्ष कराया है।

* पूज्य गुरुदेवश्री का सुनहरा वाक्य निकला उसके बाईस दिन बाद ही उनका स्वर्गवास हो गया। आत्मा 'वास्तव में' पर को नहीं जानता तो फिर पर को जानने के लिए उपयोग लगाना वह बात ही कहाँ रही? अर्थात् यदि 'वास्तव में' आत्मा पर को जानता होता तो पर की तरफ उपयोग रखना रहता!

इसप्रकार 'वास्तव' इस एक शब्द में जिनागम के बारह अंग का सार भर दिया है। 'वास्तव' शब्द में उत्कृष्ट भेदज्ञान छुपा हुआ है।

'वास्तव' शब्द एक; उसमें विश्व की सिद्धि हो गई.... फिर विश्व की सन्मुखता का निषेध किया और प्रतिभासरूप स्वच्छता का स्वीकार हुआ। प्रमाण में लाकर फिर से विधि-निषेध करने पर ज्ञान की स्वच्छता भी जानने में नहीं आती.... "जाननहार जानने में आता है" ऐसी ज्ञानपर्याय भी ज्ञात नहीं होती.... मात्र जाननहार ज्ञात होता है; इसप्रकार जाननहार का लक्ष कराया।

(४) ज्ञान जानता है और ज्ञान में जानने में आता है इन दोनों का अंतर दर्शानेवाले पूज्य भाईश्री :

'जानता है' और 'जानने में आता है' ये दोनों शब्द ऊपर ऊपर से देखने पर समानार्थी लगते हैं परंतु इन दोनों के बीच बंधमार्ग और मोक्षमार्ग का अंतर रहा हुआ है।

'जानता है' उसकी परिभाषा : कि 'जिसमें' तन्मय होता है उसे जानता है और 'जिसे' तन्मय होकर जानता है उसमें आत्मबुद्धि हुए बिना नहीं रहती। अब ध्रुव को जानता है तो तन्मय होकर जानता है। जबकि उत्पाद्-व्यय तन्मयता अर्थात् अहम् के बिना ज्ञात हो जाते हैं। ध्रुव को जानने में पुरुषार्थ है। व्यतिरेक तो बिना पुरुषार्थ के ज्ञात हो जाते हैं।

पुरुषार्थ सिद्धि उपाय की १४ नंबर की गाथा में कहा कि ज्ञानी अज्ञानी के पदार्थ के प्रतिभास में

अंतर है। और जयसेन आचार्य भगवान ने श्री समयसार निर्जरा अधिकार में फरमाया कि **"दर्पण में आए हुए प्रतिबिंब के समान"** जानता है अर्थात् कि **"कार्य में कारण का उपचार करके"** कहा कि ज्ञान पर को जानता है। जानता तो है नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकार को और कथन किया कि पर को जानता है। यह बात श्री प्रवचनसारजी में है।

अब अज्ञानी को भी पर को जानने की प्रक्रिया तो इनडायरेक्ट ही भजती है; लेकिन उसे ज्ञान स्वभाव का विश्वास ना होने से, वह परपदार्थ के सन्मुख अर्थात् परपदार्थ के प्रतिभास का लक्ष कर लेता है।

अब "जानता है" और "जानने में आता है" उन शब्दों में कैसा मर्म रहा हुआ है वह देखते हैं।

"जानता है।"

ज्ञेय की सन्मुखता
बहिर्मुखता
पराश्रयता
मिथ्यात्व
परसन्मुखता
बंध मार्ग
संसार खड़ा होता है
पर्यायदृष्टि
खंड खंड इंद्रियज्ञान
मुख्यरूप से पर्यायवाचक
सक्रियपना
सविकल्पता
(परिणमता है वह) कर्तापना
इन्द्रियज्ञान की पर्याय का स्वीकार
विनश्वरता
जानता है तो ज्ञान से बाहर चला गया
ध्यान तत्व है
स्वपरप्रकाशक की मुख्यता

"जानने में आता है।"

ज्ञान की सन्मुखता
अंतर्मुखता
स्वाश्रयता
सम्यक्त्व
स्वसन्मुखता
मुक्तिमार्ग
संसार का नाश होता है
द्रव्यदृष्टि
अखंड में अहम्
मुख्यरूप से द्रव्यवाचक
निष्क्रियपना
निर्विकल्पता
अकर्तापना
सहज वस्तु स्थिति का स्वीकार
अविनश्वरता
ज्ञात होता है तो उपादान में आ गया
ध्येय तत्व है
उपादेय की मुख्यता

इसप्रकार दोनों के वाच्य में उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव जितना अंतर है। **जो जानता है वह मैं नहीं हूँ लेकिन जो ज्ञात होता है वह मैं हूँ।** श्रुतज्ञान पलटता है लेकिन उसका विषय नहीं पलटता। ज्ञेय तो दर्पण के समान ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, तो फिर पदार्थ ज्ञात होते हैं या स्वच्छता ज्ञात होती है? स्वच्छता जहाँ दिखी वहाँ तो ज्ञान परज्ञेयों से पराङ्गमुख हो जाता है और ज्ञायक के सन्मुख परिणम जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने श्री समयसार की छठी गाथा के प्रवचन में फरमाया है कि "ज्ञात होती है वह चीज ज्ञात नहीं होती लेकिन जाननहार ज्ञात होता है।"

(५) जैनदर्शन का सार स्पष्ट करनेवाले पूज्य भाईश्री :

"मैं जाननहार हूँ करनेवाला नहीं। जाननहार जानने में आता है, वास्तव में पर जानने में नहीं आता।"

"मैं जाननहार हूँ" अर्थात् अनादि अनंत निष्क्रिय जाननहार है। परिणाम मात्र से रहित है ऐसा जाननहार है। करनेवाला नहीं है अर्थात् परिणामनेवाला नहीं है। आत्मा आत्मज्ञान का भी करनेवाला नहीं है। अर्थात् आत्मा से भी आत्मज्ञान नहीं होता। आत्मा केवल जाननहार होने से करनेवाला नहीं है। आत्मा अकर्ता होने से करनेवाला नहीं है। अर्थात् अकर्ता को कर्म नहीं होता।

"निष्क्रिय शुद्ध पारिणामिकः" होने से कर्ता नहीं है। 'तद्रूपो न भवति' इसलिए कर्ता नहीं है। कदाचित् कोई जाननहार को करनेवाला माने तो भी वह करनेवाला नहीं होता। वह तो जाननहार ही रहता है। जिसे परिणाम से सहित ज्ञायक दिखता है उसे नियम से करनेवाला दिखता है। हमें तो "मैं जाननहार हूँ" वही बात करनी है।

अब दूसरा वाक्य **"जाननहार जानने में आता है"**, उसमें 'जाननहार को जानता हूँ'- ऐसा नहीं लिखा। लिखा है? जाननहार जानने में आता है ऐसा जानकर कहा न? आत्मा जाननहार है और जाननहार जानने में आता है, वही बात करनी है। आत्मा जानता है- वह बात ही करनी नहीं है। आत्मज्ञान में जब आत्मज्ञान भी जानने में नहीं आता तो फिर पर की बात तो क्या करनी! आत्मज्ञान में तो **'मैं जाननहार हूँ'** ऐसा ज्ञात होता है वह ही आत्मज्ञान है।

फिर.... **"वास्तव में पर जानने में नहीं आता"** ऐसा लिखा है, पर को जानता नहीं- ऐसा स्टीकर में नहीं लिखा। जहाँ 'पर जानने में नहीं आता' तो फिर 'पर को जानता नहीं है' वह बात तो बहुत स्थूल हो गई। साधक को स्वयं को जानने पर परपदार्थ जानने में आ जाते हैं न? वह चारित्र का दोष है। 'पर जानने में आता है' उसमें कभी भी 'हाँ' मत करना हों!

पर ज्ञात नहीं होता वह स्वरूपाचरण चारित्र की विधि है। **पर को जानता है वह श्रद्धा का दोष है। पर जानने में आ जाता है वह चारित्र का दोष है। पर को जानता भी नहीं और पर जानने में भी नहीं आता - ऐसा चारित्र का गुण ही गुण है।**

स्वयं को जानता है और स्वयं ही जानने में आता है, उसमें शुद्धोपयोग आ जाता है। फिर आगे बढ़ने पर श्रेणी मांडता है... आगे बढ़ने पर शुक्ल ध्यान आता है और फिर जगमग केवलज्ञान की ज्योति प्रगट हो जाती है।

'पर को जानता हूँ' उसमें कर्ताकर्म दोष उत्पन्न होता है। क्योंकि ज्ञायक कर्म नहीं हुआ। और 'पर जानने में आता है' उसमें ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष उत्पन्न होता है। क्योंकि ज्ञायक ज्ञेय नहीं हुआ। अब पर को नहीं जानता, उसमें पर के साथ जो ध्येयरूप संबंध था वह टूट जाता है और पर ज्ञात नहीं होता, उसमें पर के साथ ज्ञेयपने का संबंध टूट जाता है। ऐसा होने पर अंदर ध्येयपूर्वक ज्ञेय होता है। लो! यह स्टीकर में से निकला। 'ध्येयपूर्वक ज्ञेय' एक समय में होता है।

ज्ञायक ही ध्येय है, ज्ञायक ही ज्ञेय है, वह... अभेद है हों! अपरिणामी को लक्षपूर्वक जानता है तब परिणामी लक्ष के बिना जानने में आ जाता है। पर तो ज्ञात होता ही नहीं। इसप्रकार "जाननहार ही ज्ञात होता है"। जाननहार में जाननहार के अलावा अंदर दूसरा कुछ नहीं है, इसलिए दूसरा कुछ ज्ञात ही नहीं होता। यदि परिणाम को जानने का स्वभाव हो तो... परिणाम को जानते-जानते केवलज्ञान हो जाना चाहिए। अरे! सम्यग्दर्शन भी होता नहीं है तो केवलज्ञान तो कहाँ से हो?

ज्ञानशक्तिमयी है इसलिए जाननहार है, करनेवाला नहीं है। ज्ञेयशक्तिमयी है इसलिए स्वज्ञेय ज्ञात होता है, परज्ञेय नहीं ज्ञात होता। तू इन दो शक्तियों का विचार कर। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय भेद नहीं है; अभेद परिणामन है। इस प्रकार जानने का और ज्ञात होने का- दोनों स्वभाव आत्मा के ही हैं। स्वभाव का कभी अभाव नहीं होता।

(६) तत्काल आत्मदर्शन की "ना" शब्द में विधि बतानेवाले पूज्य भाई श्री:

सम्यग्दर्शन होने में बाधक क्या है? अनुभव क्यों नहीं होता? तो कहते हैं ज्ञान पर्याय का व्यवहार जो स्व पर को जानता है वह सम्यग्दर्शन होने में बाधक है। ज्ञान का स्वभाव परप्रकाशक तो नहीं लेकिन स्वपरप्रकाशक भी नहीं है। **स्वपरप्रकाशकता तो ज्ञान की सामर्थ्य है। जबकि ज्ञान का उपादेय स्वभाव स्वप्रकाशक ही है।**

ज्ञान का लक्षरूप स्वभाव जब अंतरंग में भासित होता है; तब सम्यक् एकांतपूर्वक सम्यक् अनेकांत प्रगट होता है। ज्ञान ज्ञायक को ही जानता है वह सम्यक् एकांत है। और ज्ञान ज्ञायक को जानता है और पर को नहीं जानता वह सम्यक् अनेकांत है।

परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के श्री समयसार के छठी गाथा के १९वीं बार के प्रवचन की जो "ज्ञायक भाव" पुस्तक है; उसमें पेज नं. १०/११ में प्रश्न है कि जाननहार है इसीलिए पर को जानता है न?

उत्तर : 'नहीं'।

दूसरा प्रश्न है: "परंतु वह जाननहार है न! क्योंकि वह जाननहार है इसलिए उसमें दूसरा भी जानने में आता है न?"

समाधान : 'ना'। क्योंकि ज्ञात होता है वह स्वयं ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने ऐसा नहीं कहा कि ज्ञान व्यवहार से पर को जानता है... और पर ज्ञात होता है। उन्होंने उत्तर में 'ना' कहा। इस 'ना' में तो भगवान आत्मा उपादेय हुआ है। यह 'ना' कोई साधारण नहीं है। अस्ति से लें तो "जाननहार जानने में आता है" ऐसा विश्वास आए बिना पर को जानने का निषेध आता नहीं। और नास्ति से लें तो पर को जानने के निषेध के बिना उपयोग अंतर्मुख नहीं होता। और उपयोग अंतर्मुख हुए बिना जाननहार जानने में नहीं आता। दोनों स्वभाव अविनाभावीरूप से अविरोधपूर्वक साथ में रहते हैं।

जब ज्ञानी धर्मात्मा विधि-निषेध से बात कहते हैं तब लायक शिष्य इतनी प्रगाढ़ता से भारपूर्वक स्वीकार करता है कि "पर को जानता नहीं हूँ, जाननहार जानने में आता है" कि उसके फलस्वरूप उसे विशेष में (पर्याय में) जाननहार ज्ञात हो जाता है।

इसप्रकार पर को जानने का निषेध करना वह वीर्यवान का कार्य है। पर को जानता हूँ- वह अज्ञान है, पर को जानता नहीं- वह ज्ञान है।

आत्मा का लक्षण तो ज्ञान है। लेकिन अब ज्ञानलक्षण का लक्षण क्या है? पर को न जानना और जाननहार को जानना वह ही लक्षण है। धर्म करना हो, सुखी होना हो, तो पर को जानना बंद कर। मैं पर को जानता हूँ ऐसी मान्यता ही "जाननहार जानने में आता है" ऐसे विचार का जन्म नहीं होने देती।

सभी को जाननहार जानने में आता है ऐसी ही अनादि-अनंत व्यवस्था है लेकिन किसी धन्य पल में अपूर्व विश्वास आ जाता है कि : "मुझे जाननहार ही जानने में आता है"। ऐसा विश्वास किसे आता है?

जिस जीव का संसार का किनारा निकट आ गया है उसे ही पर को जानने का निषेध आता है, तब जाननहार ज्ञात हो जाता है। वर्तमान में जाननहार को जानने का स्वर्ण अवसर आ गया है। सर्व समागम सहज में प्राप्त हो गया है।

जब श्रीगुरु की देशना छूटती है कि 'हे भव्य! तू पर को जानता ही नहीं'; इतना सुनते ही भव्य प्रसन्न हो जाता है। अत्यंत हर्षोल्लासपूर्वक आनंदित होता है। उसकी कोई अद्भुत पात्रता जाग जाती है, जो पूर्व में कभी जागी नहीं थी। जिस जीव की काललब्धि पक गई है, जिसका मोक्ष जाने का काल अति निकट आ गया है, जिसके अनंत दुःखों का अंत आ गया है, ऐसे जीव को तो ये वचन अमृत लगते हैं।

हे प्रभु! आपके ये दिव्यवचन परम उपकारी परम हितकारी हैं। यदि आपने पर को जानने का निषेध न कराया होता तो उपयोग अंतर्मुख किस तरह से होता! **पर को जानता नहीं वह निषेधरूप निषेध नहीं है परंतु विधिरूप निषेध है।** पर को जानने के निषेध में ज्ञायक के अलावा सबकुछ पर है।

जिज्ञासा : जाननहार है इसलिए पर को जानता है?

समाधान: 'ना'। न निश्चय से पर को जानता है, न व्यवहार से पर को जानता है। अनंत बलपूर्वक; पूरी शक्ति से सर्वांग प्रदेशों से जहाँ पर को जानने का निषेध किया वहाँ उसी क्षण चिदानंद जाननहार आत्मा आनंदपूर्वक जानने में आ जाता है। तू अंजन चोर की तरह निःशंक हो जा! तुझे अकृत्रिम निज चैतन्य प्रभु के दर्शन होंगे! तत्क्षण प्रभु के दर्शन होंगे ही।

इस एक 'ना' में तो ज्ञानानंद अनुभूति का सागर उछलता है। स्वरूपानंद की उर्मियाँ नाचती हैं। यह 'ना' है वह तो मोक्षमार्ग है। 'ना' कहकर तो आनंद प्रगट करने की, आत्मा का अनुभव प्रगट करने की अपूर्व विधि बतायी है। तुझे चैतन्य तत्व का अनुभव करना हो तो एक काम कर। दूसरा कोई काम मत कर। तू चौबीसों घंटे पर को जानने का निषेध कर! पर को जानता ही नहीं तो तेरे ज्ञान में तत्काल जाननहार जानने में आ जाएगा। जहाँ पर को जानना बंद किया वहाँ सहज सम्यग्दर्शन हो जाएगा। 'ना' में तो कितनी खुमारी भरी है। इस 'ना' में तो कितनी स्वरूप की मस्ती भरी है। यह 'ना' है वह आनंदकारी है। निश्चय होता है वह आनंदकारी ही होता है! इस 'ना' में तो कितना कितना भरा है। उत्तम से उत्तम बात बाहर आ गई है। **यह 'ना' शब्द है वह विवाद करनेवाला नहीं है,**

समाधानकारी है। तू पर को जानना बंद करेगा तो सर्व समाधान हो जाएगा। क्योंकि उसके फल में ज्ञान प्रगट हो जाएगा। और ज्ञान स्वभाव तो सर्व समाधानकारी ही होता है न! यह 'ना' शब्द कोई साधारण नहीं है। इस 'ना' में तो कितना मर्म भरा है। आनंद का रहस्य छुपा हुआ है। इस 'ना' में तो दुःख दूर होने का उपाय रहा हुआ है। जिसे जाननहार जानने में आता है, उसने पर को जानने का निषेध किया ही है।

ज्ञानी इतना अधिक नास्ति के ऊपर वजन देते हैं, उस पर शांति से विचार तो सही! नास्ति में अज्ञानी प्राणी का झुकाव-अहम् वर्तता है इसीलिए नास्ति से समझाते हैं। पर को नहीं जानता ऐसे स्वभाव की ओर से ज्ञान का-ज्ञायक का परिचय कराते हैं। पूज्य गुरुदेवश्री की 'ना' विचारने योग्य है। उसमें अखूट अटूट निधि समाई हुई है। जिसे 'ना' समझ में आता है उसे ही उसके बाद की आगे की लाईन समझ में आती है। 'पर को जानता नहीं' वह विकल्प नहीं है परंतु हकीकत है। पर को जानने का निषेध और स्व को जानने की विधि के बीच कुछ भी समय भेद नहीं है। इस 'ना' में तो स्वरूप की प्रसिद्धि है। 'ना' कहकर तो परमार्थ जीव के जीवत्व को दर्शाया है।

पहले पर को जानता था और अब पर को जानना छोड़ता हूँ- ऐसा नहीं है। ध्यान रखना! इसमें मार्मिक बात है। जैसे अकारक और अवेदक त्रिकाल स्वभाव है, जैसे जाननहार हूँ और करनेवाला नहीं हूँ- वह त्रिकाल स्वभाव है, ऐसे ही "जाननहार जानने में आता है और वास्तव में पर जानने में नहीं आता" वह भी त्रिकाल स्वभाव है। एक द्रव्य का त्रिकाल स्वभाव है, दूसरा पर्याय का त्रिकाल स्वभाव है। जिसप्रकार तत्त्वार्थसूत्र की महिमा आती है ऐसे ही जो यह स्वरूप समझेगा उसे इस सूत्र की महिमा आएगी, क्योंकि यह द्रव्यानुयोग का निचोड़ है।

"मैं जाननहार हूँ" और "जाननहार जानने में आता है"। हे जगत के जीवों! इस स्वाभाविक वस्तुस्थिति को स्वभाव से स्वीकारो और आनंदित हो जाओ।

"जाननहार जानने में आता है और वास्तव में पर जानने में नहीं आता...."

ऐसे मंत्रों का महामंत्र देनेवाले;

सर्वोपरि मंत्र का सार बतानेवाले;

अमोघ मंत्र की अमूल्यता दर्शानेवाले;

अमृत बिंदुओं की अमृतवर्षा बरसानेवाले,

अमृतबोधि प्राप्त पूज्य 'भाईश्री'

लालचंदभाई जयवंत वर्तो... जयवंत वर्तो....

अस्ति-नास्ति भेदज्ञान द्वार

जिनागम में अनेक प्रसंगों में एवं यथास्थान पर नयों की सुंदर चर्चा विशदरूप से देखने को मिलती है¹। ४७ नयों में भी अस्तित्व-नास्तित्व संबंधी चर्चा आई है² एवं परिशिष्ट में अस्ति-नास्ति आदि १४ भंग का वर्णन है। अब उसी अस्तित्व नास्तित्व नयसंबंधी विशेष जानकारी देनी अति आवश्यक होने से ज्ञानी इस अनेकांत की विशिष्टता से विशेष चर्चा करते हैं।

जिनागम में सप्तभंगी दो प्रकार से देखने को मिलती है। (१) प्रमाणरूप सप्तभंगी (२) नयरूप सप्तभंगी। अब यहाँ प्रमाणरूप सप्तभंगी भी दो प्रकार से कहेंगे। (१) द्रव्य के प्रमाणरूप सप्तभंगी और (२) पर्याय के प्रमाणरूप सप्तभंगी। इन दोनों प्रमाणों में से नयसप्तभंगी के द्वारा अंदर-अंदर ही किस तरह से भेदज्ञान कराते हैं वह आगे देखेंगे।

प्रमाणरूप सप्तभंगी वस्तु में स्थित वस्तु के व्यापकपने को दर्शाती है। अर्थात् सामान्य-विशेषपने को बताती है। इसप्रकार प्रमाण सप्तभंगी संग्रह करती है, पदार्थ की सिद्धि करती है एवं वस्तु-व्यवस्था की सिद्धि करती है। और नय सप्तभंगी वस्तु के एक पक्ष को ही बताती है। वह प्रयोजन की सिद्धि कराती है।

अस्ति-नास्ति भंग सात ही किसलिए हैं? किन सात प्रकारों से है? वगैरह विषयवस्तु संबंधी विस्तृत जानकारी परमभावप्रकाशक नयचक्र, जैन सिद्धांतकोष, आप्त मीमांसा, स्याद्वाद मंजरी, तत्वार्थ राजवार्तिक, सप्तभंगी तरंगिणी, सिद्धांत प्रवेशिका आदि ग्रंथों में से प्राप्त कर लेना। यहाँ तो प्रमाणरूप अस्ति-नास्ति अनेकांत और नयरूप अस्ति-नास्ति अनेकांत की भेदज्ञान में किसप्रकार से उपयोगिता है, उस विषय पर भेदज्ञान को मूल में से सम्यक् प्रकार से अवलोकन करने में आता है।

जितने आत्मा सिद्ध हुये हैं वे भेदविज्ञान से ही हुये हैं और भेदज्ञान का कारण अस्ति-नास्ति अनेकांत है। अस्ति-नास्ति के आधार के बिना भेदज्ञान नहीं हो सकता। इसप्रकार अस्ति-नास्ति अनेकांत भेदज्ञान का मूल है। और भेदज्ञान को ही सिद्ध दशा का कारण कहा है। तदुपरांत दर्शन संशुद्धि और ज्ञान की निर्मल शुद्धि के लिए भेदज्ञानपरक अस्ति-नास्ति अनेकांत अमृत है।

इस बात की उत्कृष्ट सिद्धि श्री कुंदकुंदाचार्य देव करते हैं। **"³हैं अस्ति-नास्ति, उभय एवं अवाच्य आदि भंग जो";** इस गाथा की टीका करते हुए अमृतचंद्रसूरि कहते हैं कि : **"⁴अत्र सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतकः कथंचिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः।"** स्यात् शब्द सर्वथापने का अर्थात् मिथ्या एकांतपने का निषेधक है और सम्यक् अनेकांत का द्योतक है। इसप्रकार अस्ति-नास्ति अनेकांत जैनधर्म का कौशल्य है। उससे जगत की किसी भी वस्तु का स्वरूप निश्चित हो जाता है। श्री गणधरदेव बारह अंग और चौदह पूर्व की रचना करते हैं; उसमें अस्ति-नास्ति प्रवाद की रचना भी करते हैं।

यह अस्ति-नास्ति स्याद्वाद वस्तु के पूर्ण स्वरूप को पूर्णपने प्रसिद्ध करता है। ⁵स्याद्वादो

1 प्रवचनसार गाथा-१७२

2 श्री समयसार परिशिष्ट कलश नं. २४८/२६२

3 श्री पंचास्तिकाय गाथा १४

4 श्री पंचास्तिकाय गाथा १४ की टीका में से

5 श्री समयसार परिशिष्ट

हि समस्तवस्तुतत्त्व साधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वमनेकान्तात्मकमित्यनुशास्ति, सर्वस्यापि वस्तुनोनेकान्त स्वभावत्वात्।"

"स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को साधने वाला, अरहंत सर्वज्ञ का एक अस्खलित शासन है। निर्बाध शासन है। वह (स्याद्वाद) 'सब अनेकांतात्मक है' इसप्रकार उपदेश करता है। क्योंकि समस्त वस्तुयें अनेकांत स्वभाववाली हैं।

(१) "स्वरूप से सत्ता पररूप से असत्ता ऐसे दो धर्मों द्वारा एक पदार्थ का निर्णय होता है।"

जो वस्तु तत् है वही अतत् है। जो एक है वही वस्तु अनेक है। इसप्रकार वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर दो विरुद्ध शक्तियों का प्रकाश करना वह अनेकांत है। इसप्रकार परस्पर दो विरोधी धर्म एक वस्तु को सिद्ध करते हैं। यदि एक धर्म दूसरे धर्म का निषेध करे तो वस्तु ही अनंत धर्मात्मक सिद्ध नहीं होगी। अस्ति-नास्ति धर्म ये दोनों परस्पर विरुद्ध होते हुये भी वस्तु में दोनों युगपद् एकसाथ अविरुद्ध रहे हुये हैं। इसलिये वस्तु स्वयं ही अनेकांत स्वभाववाली है।

तर्क शिरोमणी श्री समंतभद्र आचार्य ने कहा है कि : **"अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नय-साधनः"** अनेकांत की सिद्धि मात्र प्रमाण से होती हो ऐसा नहीं है, परंतु अनेकांत की सिद्धि भी दो प्रकार से होती है। (१) प्रमाण और (२) नय से होती है। जैनदर्शन में कुल तीन प्रकार के अनेकांत देखने को मिलते हैं।

* **प्रमाणरूप अस्ति-नास्ति अनेकांत।**

* **नयरूप अस्ति-नास्ति अनेकांत।**

* **(अध्यात्म) प्रमाणरूप अस्ति-नास्ति अनेकांत वह फलरूप है।**

प्रमाणरूप अनेकांत द्रव्य-पर्यायरूप सत्ता में लाता है और नयरूप अनेकान्त प्रयोजन की सिद्धि कराता है। वास्तव में प्रयोजनभूत सच्चा अस्ति-नास्ति अनेकांत द्रव्य और पर्याय के बीच होता है।

(२) दृष्टांत में प्रमाणरूप अस्ति-नास्ति अनेकांत का स्वरूप :-

एक व्यक्ति को मौसमी चाहिए। वह फलवाले की दुकान पर गया। वहाँ विविध प्रकार के ६ फल हैं। अनानास है, आम है, सीताफल है, अनार है, चीकू है और मौसमी है। उस व्यक्ति ने फल वाले से कहा, 'मुझे मौसमी चाहिए, इसलिये मुझे एक मौसमी दो।' इसप्रकार मौसमी में अन्य पाँच फलों की नास्ति हो गई। परंतु एक मौसमी लेने पर दूसरी मौसमियों की भी नास्ति हो गई।

(३) सिद्धांत में प्रमाणरूप अस्ति-नास्ति अनेकांत :-

वैसे ही इस जगत में अनंतों द्रव्य हैं। उनमें एक-एक द्रव्य की स्वपने अस्ति है, एवं दूसरे अनंतों द्रव्यपने नास्ति है। ऐसा होने पर अपना जीव द्रव्य उनसे अलग पड़ गया। इसप्रकार द्रव्यों में अनंत सप्तभंगी समझना। "प्रमाण के बाहर जाना नहीं...!" अर्थात् 'गुण पर्यायवत् द्रव्यम्' में आ गया। वस्तु स्वरूप से है और पररूप से नहीं है। प्रमाणरूप अस्ति-नास्ति अनेकांत की चाबी हाथ लगने पर

6 श्री सिद्धांत प्रवेशिका

7 स्वयंभूस्तोत्र श्लोक नं. १०३

सामान्य स्वचतुष्टय में अर्थात् प्रमाण की सत्ता में आया, यहाँ तक तो सिर्फ प्रमाण की सिद्धि होती है। "१ न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि" इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने से अस्तिरूप है पर से नास्तिरूप है। यह अस्ति-नास्ति अनेकांत पर से पृथक बताकर वस्तु-व्यवस्था में लाता है। इसप्रकार प्रमाण पर से भिन्न करने के लिए है। प्रमाण भी प्रमाण में अटकने के लिए नहीं है।

(४) दृष्टांत द्वारा नयरूप अस्ति-नास्ति अनेकांत :-

अब "प्रमाण में अटकना नहीं उस न्याय से..." उस मौसमी में ही भेदज्ञान करना है। जैसे पूरा गन्ना पशु खाता है मनुष्य नहीं खाता। मनुष्य तो मात्र रस चूसता है। वैसे ही कोई साबुत मौसमी खाये तो वह विवेकी नहीं किन्तु पशु है। और उसको साबुत रखकर छोड़ दे तो रस भी सूख जाता है।

साबुत मौसमी न हेय है न उपादेय है। वह मात्र ज्ञेय है। इसलिए इस मौसमी में अब भेदज्ञान का प्रयोग करते हैं। मौसमी में से रस निकालते हैं और छिलका फेंक देते हैं। क्योंकि दो रूप रस के दिए हैं। और यह रस ग्रहण करने योग्य 'पेय' है।

(५) सिद्धांत में नयरूप अस्ति-नास्ति अनेकांत :- यह अस्ति-नास्ति अनेकांत भेदज्ञानपरक होने से अमृत है। यदि इसमें से भेदज्ञान को छोड़े तो वह जहर हो जाता है। अर्थात् प्रमाण का पक्ष हो जाता है। जैसे पूरा गन्ना पशु खाता है मनुष्य नहीं, वैसे प्रमाणरूप द्रव्य को उपादेय मानता है वह पशु है। नयरूप अनेकांत से प्रयोजन की सिद्धि होती होने से वह परम अमृत है। "उत्पाद् व्यय ध्रौव्य युक्तम् सत्" ऐसा आत्मा है वह हेय भी नहीं और उपादेय भी नहीं, मात्र ज्ञेय है। बाहर के पदार्थों में हेय-उपादेय नहीं होता। प्रमाण के अंदर ही हेय-उपादेय होता है।

यदि परिणामी द्रव्य को उपादेय करता है, तो मिथ्यात्व से सहित जीवद्रव्य उपादेय हो जाता है। अर्थात् हेय तत्व भी उपादेय हो गया। और इस प्रमाणरूप पूरे द्रव्य को हेय करे, तो उसमें एक उपादेय तत्व रहा हुआ है, वह जीवतत्व भी हेय हो जाता है। इसलिए खास ध्यान देने लायक बात यह है कि : "नय विभाग की युक्ति से वस्तु में टुकड़े होते हैं।" द्रव्य-पर्याय स्वरूप वस्तु में भेदज्ञान की कैंची लगाता है। कपड़े को कुर्ता बनाने के लिए काटना पड़ता है वह बात है। उसीप्रकार सामान्य विशेषात्मक पदार्थ में से ही उपादेय तत्व को निकालता है वह कुशल है। जैसे कि १स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव की अस्ति है और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव की नास्ति है- इसमें दृष्टि का विषय दिया। अब नय विभाग से किस प्रकार एक वस्तु में खंड होते हैं वह देखते हैं।

मैं ध्रुवरूप हूँ और उत्पाद-व्ययरूप नहीं।

मैं अकर्ता हूँ और कर्ता नहीं। मैं निष्क्रिय हूँ और सक्रिय नहीं।

मैं ज्ञानमय हूँ और रागमय नहीं। मैं अपरिणामी हूँ और परिणामी नहीं।

मैं सामान्य हूँ और विशेष नहीं हूँ। मैं अभेद हूँ और भेदरूप नहीं हूँ।

मैं जाननहार हूँ और करनेवाला नहीं हूँ। मैं ज्ञायकभाव हूँ और अप्रमत्त प्रमत्त नहीं हूँ।

इसप्रकार वस्तुव्यवस्था में से ही हेय-उपादेय करने पर त्रिकाली ध्रुवद्रव्य दृष्टि में उपादेय होता है।

8 श्री समयसार आत्मख्याति टीका में से २७१ कलश के पहले

9 श्री कलश टीका २५२ कलश

इसलिए नास्ति ही अस्ति का वाच्य है।

जैसे हमें ज्ञान की बात करनी है तो उसमें आ ही गया कि हमें अज्ञान की बात करनी ही नहीं है। भगवान आत्मा का श्रद्धान करना है, वहाँ आत्मा की श्रद्धा के अलावा अन्य की श्रद्धा नहीं करनी, ऐसे अस्ति-नास्ति साथ ही आती है। क्योंकि जहाँ अस्ति होती है वहाँ नास्ति भी होती ही है। नास्ति नास्तिरूप से नहीं होती। अस्ति तो अस्तिरूप से होती है। लेकिन नास्ति भी अस्तिरूप से होती है। ऐसे अस्ति-नास्ति अनेकांत का फल स्वानुभव है। इसमें जीव से जीव का भेदज्ञान हुआ।

(६) अध्यात्म प्रमाणरूप अस्ति-नास्ति अनेकांत का स्वरूप :-

कपड़ा काटा और फिर दर्जी ने इस तरह से सिलाई की कि उसका जोड़ दिखता नहीं। ऐसे ही 'गुणपर्यायवत् द्रव्यम्' में भेदज्ञान की कैंची लगाने पर.... मिथ्यात्व के परिणाम, रागादि परिणाम की उत्पत्ति ही नहीं हुई। उपादेय सामान्य ज्ञायक जैसे ही श्रद्धा में आया वहाँ तो द्रव्यदृष्टि प्रगट होते ही जैसा सामान्य वैसा विशेष.... उस ही जाति के परिणाम प्रगट हुए। अभेद ज्ञेय प्रगट हुआ।

आत्मा अनंत धर्मात्मक है। अनंत धर्मों का ज्ञान जबतक क्रम-क्रम से होता था तबतक नयपक्ष है। परंतु जिस समय द्रव्य की दृष्टि हुई उस ही समय अनंत धर्मात्मक वस्तु... पदार्थ; एक समय में सम्यग्ज्ञान में लक्ष बिना जानने में आ जाता है। तब अभेदनय कहो या उसे ज्ञानप्रधान निश्चयनय कहो, वह दृष्टिप्रधान निश्चयनय के समय ही प्रगट होता है। एकांत में तो आया परंतु एकांत हुआ नहीं। परंतु सम्यक्एकांत पूर्वक सम्यक्अनेकांत हो गया। सामान्य विशेषात्मक पूरा आत्मा ज्ञान में ज्ञेय हुआ। अकेला सामान्य द्रव्य ध्येय होता है लेकिन इतना ही ज्ञेय नहीं होता। ऐसे ही अकेली पर्याय भी ज्ञेय नहीं होती। पूरा अंशी ज्ञेय हुआ। इसलिए ज्ञेय संलग्न ही होता है। ज्ञेय निर्मल पर्याय से सहित ही होता है। 'युक्तम्' शब्द में मर्म है। "उत्पाद् व्यय ध्रौव्य युक्तम् सत्" इसप्रकार 'ध्येयपूर्वक ज्ञेय' होता ही है। यह सम्यक्अनेकांत सम्यक्एकांत का फल है। यह तीसरे प्रकार का अस्ति-नास्ति अनेकांत हुआ। **यह नयपूर्वक प्रमाणरूप अस्ति-नास्ति अनेकांत हुआ।**

(७) श्री अस्ति-नास्ति से अनंतता की सिद्धि :-

प्रत्येक द्रव्य के अंदर अस्ति-नास्ति अनेकांत का स्वरूप विद्यमान है।

* गुण गुणरूप से हैं लेकिन वे गुणीपने नहीं हैं ऐसा अस्ति-नास्ति अनेकांत है।

* द्रव्य में अनंत गुण हैं; जैसे कि... ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य वगैरह अनंत गुण हैं। उनमें एक-एक गुण स्वपने है और दूसरे अनंत गुणरूप नहीं है। इसप्रकार अनंतों अनंत गुणों में अस्ति-नास्ति अनेकांत रहा हुआ है।

* एक-एक गुण में अनंती पर्यायें हैं। उसमें एक-एक पर्याय स्वपने से है और आगे-पीछे की अन्य पर्यायपने नहीं है। इसप्रकार अनंती पर्यायों में भी अस्ति-नास्ति अनेकांत समझना।

* अब उससे आगे, एक-एक पर्याय में अनंत अविभाग प्रतिच्छेद रहे हुए हैं; उनका प्रत्येक अंश स्वपने है और दूसरे अंशरूप नहीं है। इसप्रकार अंदर-अंदर में ही... मूल तक अस्ति-नास्ति अनेकांत का स्वरूप विद्यमान है।

(८) श्री परमागम में से अस्ति-नास्ति के मुख्य अवतरण :-

* समग्र जिनवाणी में अस्ति-नास्ति अनेकांत की मुख्यता से कथन देखने को मिलते हैं। और जिनेश्वरदेव के मार्ग का क्रम भी ऐसा है कि नास्ति पूर्वक ही अस्ति होती है। निषेध में पात्रता, विधि में अनुभव होता है। एक ही गाथा में नास्ति के लेख की स्याही अभी सूखी नहीं थी कि वहीं आचार्यदेव अस्ति से स्वरूप बताने लगते हैं। इसप्रकार परस्पर दोनों विरोधी लगनेवाले धर्मों के द्वारा केवल एक शुद्धात्मा प्रसिद्ध होता है।

* श्री समयसारजी शास्त्र की शुरूआत छठी गाथा से हुई और छठी गाथा की शुरूआत नास्ति से हुई। "10 नहीं अप्रमत्त या प्रमत्त नहीं, जो एक ज्ञायकभाव है", अप्रमत्तदशा का जहाँ निषेध किया, वहाँ तो शुद्धोपयोग में जम गये। इसप्रकार फिर से नास्तिपूर्वक अस्ति हुई।

* "11 चारित्र नहीं, दर्शन नहीं, नहीं ज्ञान ज्ञायक शुद्ध है।" जहाँ भेद का निषेध किया वहाँ निर्भेद अभेद में आ गये। इसप्रकार नास्तिपूर्वक अस्ति।

* श्री समयसारजी के जीव अधिकार की अपेक्षा अजीव अधिकार को ज्यादा ऊँचा कहा है। क्योंकि नास्ति में अहम् किया है इसलिए भेदज्ञान के लिए ऊँचा कहा है। "12 वर्णादि गुणस्थान के भाव वे सभी पुद्गल द्रव्य के भाव होने से आत्मा की अनुभूति से भिन्न हैं।"

* श्री नियमसार जी का शुद्धभाव अधिकार। अधिकार का नाम है अस्ति परक और उसका वर्णन नास्ति से किया है। श्री समयसार का अजीव अधिकार नियमसार के शुद्धभाव अधिकार जैसा है। शुद्धभाव अधिकार की शुरूआत नास्ति से हुई। "13 है बाह्य तत्व जीवादि सभी हेय, आत्मा ग्राह्य है"; **यह हेय और उपादेय तत्व के स्वरूप का कथन है।** इसमें भी पहले 'हेय' शब्द है और फिर उपादेय शब्द है। इस क्रम में भी नयपूर्वक प्रमाणज्ञान होता है, ऐसा रहस्य समाया हुआ है।

* पुनः श्री नियमसार में कहा कि 14 समस्त जीवराशि (द्रव्यार्थिकनय से) पर्याय से सर्वथा व्यतिरिक्त है। इसप्रकार नास्ति धर्म के कारण ही आत्मा पर्यायों के अभाव स्वभावपने रहा हुआ है।

* श्री परमार्थ प्रतिक्रमण कैसे होता है? तो कहते हैं.... "15 मैं मार्गणास्थान, गुणस्थान, या जीवस्थान नहीं हूँ। उनका मैं कर्ता नहीं, कारयिता नहीं, अनुमोदक नहीं एवं कर्ता का कारण नहीं हूँ।"

भावी तीर्थाधिनाथ ऐसा लिखते हैं। अब उनकी चौथे गुणस्थान में कर्ताबुद्धि तो गई है फिर भी कर्ता नहीं, कारण नहीं ऐसा क्यों लिखते हैं? सातवें में से जब छटवें में आते हैं तब सविकल्प दशा में निर्मल पर्याय के कर्तापने का जो उपचार आता है वह उन्हें खटकता है, इसलिए उसका निषेध करते हैं तो चैतन्य के विलास में एकाग्र हो जाते हैं। पहले से ही निषेध से शुरूआत की थी और निषेध में लाभ हुआ न? यह निषेध का निषेध नहीं है परंतु जिसकी अस्ति है उसका निषेध है। (अस्थिरता के व्यवहार रत्नत्रय के परिणाम का निषेध है।)

10 श्री समयसार गाथा-६

11 श्री समयसार गाथा-७

12 श्री समयसार गाथा ५० से ५५ एवं कलश ३७

13 श्री नियमसार गाथा-३८

14 श्री नियमसार गाथा-१९

15 श्री नियमसार गाथा ७७ से ८१

* श्री नियमसार में कुंदकुंददेव कहते हैं। मूल गाथा में कहते हैं "16पूर्वोक्त सर्व भाव परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं, इसलिए हेय हैं और अंतःतत्त्व ऐसा स्वद्रव्य आत्मा उपादेय है।" टीका : **यह हेय उपादेय के स्वरूप का कथन है। नास्तिपूर्वक अस्ति।**

* श्री नेमिचंद्र सिद्धांतदेव एक बहुत ही गंभीर बात कहते हैं। "17अब आगे, जो कि शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव जिसका है ऐसा परमात्म द्रव्य उपादेय है, तो भी हेयरूप जीव द्रव्य का आठ गाथाओं के द्वारा व्याख्यान करते हैं। किसलिए? **हेय तत्व का परिज्ञान होने के पश्चात् उपादेय तत्व का स्वीकार होता है।"**

यहाँ जो 'हेय' शब्द है वह कहीं द्वेषवाचक नहीं है। उसीप्रकार विकल्पात्मक भी नहीं है। 'हेय' शब्द है उसे उपेक्षावाचक समझना। और 'उपादेय' शब्द को अपेक्षावाचक समझना। यहाँ नास्ति का वाच्य मात्र अस्तिरूप ही समझना। निषेध अर्थात् विकल्प खड़ा होता है वह बात यहाँ नहीं है।

18श्री जयसेन आचार्य भगवान टीका में कहते हैं कि : राग को हेय करना नहीं पड़ता। राग स्वयं 'हेय' हो जाता है। जहाँ ज्ञान आत्मा के सन्मुख होकर परिणम गया वहाँ राग उत्पन्न ही नहीं हुआ उसका नाम 'हेय' है। यह 'हेय' विकल्पात्मक नहीं है। श्री समयसारजी की ३४ गाथा में 'ज्ञान प्रत्याख्यान है' उसका यही अर्थ है।

(९) आत्मा को देखने पर ज्ञानियों को किसकी नास्ति दिखाई देती है?

विशेष भावों की नास्तिस्वरूप से सदा शुद्धात्मा विराजमान होने से सदा शुद्ध है। नास्ति प्रधान आत्मा को देखने पर क्या जानने में आया? शुद्धात्मा में परिणाम मात्र का अभाव है। अर्थात् शुद्धात्मा में मोक्ष नहीं है ऐसा जानने में आया। श्रीमद् जी कहते हैं कि: **दिगंबर आचार्य कहते हैं कि "जीव का मोक्ष नहीं होता, मोक्ष समझ में आता है।"** ज्ञानी ऐसे शुद्धात्मा को जानते जानते शुद्धात्मा का स्वरूप दिखाते हैं। शुद्धात्मा में मोक्ष नहीं है तो फिर मोक्ष की पर्याय को शुद्धात्मा किस प्रकार करे? मोक्ष आत्मा में नहीं है तो फिर मोक्ष की पर्याय को किस तरह से जाने? तो फिर यह सिद्ध हुआ है कि आत्मा मोक्ष का करनेवाला भी नहीं है और मोक्ष का जाननेवाला भी नहीं है। "मैं तो अकर्ता ज्ञायक हूँ" तो अकर्ता ज्ञायक में पुष्ट-तुष्ट हुआ। आत्मा में मोक्ष नहीं है, ऐसा ज्ञानी द्वेष से कहते होंगे कोई? ना रे! वे तो वस्तु के स्वरूप से कहते हैं।

यह सुनकर योग्य शिष्य को लगता है कि "ओहो! इस बात की तो मुझे खबर ही न थी।" कि : मैं नास्ति स्वभाव के कारण विशेषों से सदा न्यारा ही रहा हूँ। इसप्रकार नास्ति धर्म के स्वरूप का ख्याल आने पर सहज ही व्यवहार के पक्ष का निषेध आता है। अब उसके पुरुषार्थ का वेग निःशंकपने स्वभाव की तरफ आगे बढ़ता है। यदि अकेली विधि से कार्य होता तो ज्ञानी व्यवहार का निषेध ही न कराते। **लेकिन व्यवहार के निषेधपूर्वक ही विधि में आते हैं और विधि में आने पर सहज ही कार्य संपन्न होता है।** इसप्रकार अस्ति-नास्ति अनेकांत के द्वारा शुद्धात्मा की उपलब्धि होती होने से वह अमृत है।

16 श्री नियमसार गाथा-५०

17 श्री द्रव्यसंग्रह गाथा १४ की टीका के पश्चात् अंत में

18 श्री कलश टीका कलश नं. १४ पर पूज्य गुरुदेव श्री के प्रवचन में से

(१०) शूरवीर का साधन अस्ति-नास्ति अनेकांत :-

अस्तिधर्म शुद्धात्मा का जैसा स्वरूप है वैसे स्वभाव से आत्मा की पहचान कराता है। नास्तिधर्म जो शुद्धात्मा में नहीं है ऐसे स्वभाव से पहचान तो आत्मा की ही कराता है। परस्पर दो विरोधी धर्मों का कथन करके अविरुद्ध स्वरूप को सिद्ध करता है।

नास्ति धर्म भी आत्मा में अस्तिरूप से रहा होने से वह धर्मों को ही प्रसिद्ध करता है। अस्तिधर्म ज्ञायक की प्रसिद्धि करता है और नास्ति धर्म पर की प्रसिद्धि करता है ऐसा नहीं है। जैसे कि 'अकर्ता ज्ञायक हूँ' वह अस्तिप्रधान शुद्धात्मा का स्वरूप है और 'कर्ता नहीं हूँ' ऐसा नास्ति से आत्मा का ही स्वरूप है।

जैसे कोई योद्धा युद्ध के मैदान में युद्ध करने जाता है तब वह अपने पास दो वस्तुयें रखता है। एक तलवार और दूसरी ढाल। तलवार से तो दुश्मनों के मस्तक धड़ाधड़ काट डालता है और ढाल से? ढाल से वह दुश्मनों की तलवार के वार (को) झेलता है और स्वयं का रक्षण करता है। युद्ध के रण मैदान में न अकेली तलवार होती है! न अकेली ढाल होती है! न अकेली तलवार कार्यकारी होती है न ही अकेली ढाल कार्यकारी होती है। इसीप्रकार अस्ति धर्म तलवार के स्थान पर है और नास्ति धर्म ढाल के स्थान पर है।

चैतन्य परमात्मा का स्वभाव ही कोई आश्चर्यकरी है। वह कभी शुभाशुभभावरूप होता ही नहीं, इसलिए अनादि अनंत शुद्ध है। यह नास्ति धर्म ऐसी ढाल है, ऐसा वज्र किला है कि वह मलिन परिणाम को या निर्मल परिणाम को अंतःतत्व में प्रवेश ही नहीं करने देता। वाह रे वाह प्रभु! नास्ति धर्म तो उपकारी है! उसके कारण भगवान आत्मा शुद्ध रहा है।

ढाल के उदाहरण से इतना समझ में आता है कि जैसे अस्ति धर्म **अंतर्मुखता** का कारण है उसीप्रकार नास्ति धर्म **बहिर्मुखता** का कारण है ऐसा नहीं है। नास्तिधर्म भी **अंतर्मुखता** का रक्षण करता है। हाँ! इतनी बात जरूर है कि नास्ति धर्म के संबंध में जो नासमझी है वह बहिरदृष्टि का कारण है, न कि नास्तिधर्म की समझ बहिरदृष्टि का कारण।

अब कदाचित् कोई जीव नास्ति को नास्तिरूप से ही लक्ष में लिया करे और नजर पर के ऊपर... राग के ऊपर.. भेद के ऊपर... रखता रहे तो अज्ञान है। लेकिन जिनेन्द्रदेव के मार्ग में तो नास्तिपूर्वक सीधे अस्ति में आये ऐसी बात है।

(११) उपसंहार :-

सर्वज्ञ आम्नाय में... न्यायमार्ग में, आत्मा का अनुभव व्यवहार के निषेधपूर्वक विधि से ही होता है। नास्ति का ज्ञान किये बिना शुद्धात्मा का यथार्थ निर्णय भी नहीं होता। और अस्ति के ज्ञान बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। व्यवहार के निषेध में ही भेदज्ञान की परिणति बलवान होती है। और विधि में आत्मसन्मुख होती है। इसलिए कोई वीर्यवान जीव ही व्यवहार का निषेध कर सकता है। और जो व्यवहार का निषेध करता है उस जीव को अपेक्षा से 'सम्यक्त्व का अधिकारी भी कहा है'।

इसप्रकार फलित होता है कि : अस्ति गुणप्रधान द्रव्य को देखो चाहे नास्ति गुणप्रधान द्रव्य को देखो, दोनों का वाच्य केवल शुद्धात्मा है। दोनों धर्म केवल धर्मों को ही प्रसिद्ध करते हैं। साथ साथ

इतनी बात सत्यार्थ है कि नास्तिधर्म के स्वरूप का विचार करने पर... या उसका कथन करने पर या उसके विकल्प में... पर की सापेक्षता हो - ऐसा लगता है लेकिन नास्ति धर्म का स्वरूप पर सापेक्ष नहीं है, परंतु अस्ति सापेक्ष है। दोनों धर्म एक वस्तु का स्वभाव होने से भेदज्ञान कराके आत्मानुभव कराते हैं। इसप्रकार अस्ति-नास्ति अनेकांत ऐसा है कि सम्यग्दर्शन न हो तो त्वरा से हो जाये और हो तो जाये नहीं... और चारित्र लाये ऐसा यह भेदज्ञान अमृत है।

श्री जिनमंदिर के गगनचुंबी धवल शिखर पर स्वर्ण कलश की शोभा तो कोई न्यारी ही होती है। ऐसे ही जैनदर्शन के साररूप, उन्नत चोटी पर यह 'कलश सूत्र' कैसा शोभायमान है! "मैं जाननेवाला हूँ, करनेवाला नहीं हूँ" इसमें अस्ति-नास्ति अमृत के द्वारा कर्ताबुद्धि का निषेध कराया। पर्यायमात्र से रहित सारभूत ध्रुव ज्ञायक अर्थात् द्रव्य का निश्चय दिया।

अब "जाननहार जानने में आता है वास्तव में पर जानने में नहीं आता" उसमें भी अस्ति-नास्ति अमृत के द्वारा ज्ञानपर्याय का निश्चय आगे देखेंगे।

ज्ञानरूप अस्ति-नास्ति भेदज्ञान द्वार :

(१) प्रमाणरूप ज्ञान पर्याय में अस्ति-नास्ति अनेकांत का स्वरूप :-

प्रमाणज्ञान में अस्ति-नास्ति का स्वरूप किसप्रकार से रहा हुआ है वह जानना मात्र आवश्यक ही नहीं है परंतु अनिवार्य भी है। क्योंकि यह भी जैनदर्शन का महत्वपूर्ण विषय है।

जैसे द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तु में अस्ति-नास्ति अनेकांत द्वारा भेदज्ञान होने पर निष्क्रिय ध्येय दृष्टि में आता है, उसीप्रकार ज्ञान पर्याय में अस्ति-नास्ति अनेकांत का प्रयोग करने पर उपादेयरूप स्वप्रकाशक भाव का ग्रहण होता है।

इस ज्ञान पर्याय में अस्ति-नास्ति नाम का धर्म होने के कारण ज्ञान पर्याय 'करने के' नास्तिरूप तो है ही, परंतु वही ज्ञान पर्याय पर को 'जानने के' नास्ति स्वरूप है। वही ज्ञान पर्याय ज्ञायक को जानने के अस्तिरूप है अर्थात् कि स्वभावरूप है। इसप्रकार अस्ति-नास्ति दो धर्मों के द्वारा एक ज्ञान पर्याय का स्वभाव सिद्ध होता है। एक ही ज्ञान पर्याय दो धर्मोंवाली धर्मों है। यह अस्ति-नास्ति धर्म युगलिया हैं। "अस्ति-नास्ति युगलम्" इसलिए नास्तिधर्म में अस्तिधर्म है और अस्तिधर्म में नास्तिधर्म है। क्योंकि वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। इसप्रकार नास्ति में अस्ति छुपी हुई है।

यदि मात्र अस्ति से बात करें तो उसमें छल ग्रहण होने का अवकाश भी है। 'ज्ञान स्व को जानता है' अब इसमें से कोई ऐसा भी निकालता है कि "ज्ञान स्व को भी जानता है; और पर को भी जानता है"। व्यवहार के पक्षवाले (जिससे) ऐसा अर्थ न करें (उनके लिए) और अनादि संसारी जीवों को व्यवहार का तीव्र पक्ष रहा हुआ है वह किस प्रकार से छूटे, इस हेतु से ज्ञानी अस्ति-नास्ति से बात करते हैं। अस्ति-नास्ति धर्म समझने से दोष ग्रहण नहीं होता। क्योंकि अस्ति-नास्ति के किले में ज्ञान स्वभाव सुरक्षित है।

(२) अस्ति-नास्ति धर्म का स्वाभाविक स्वरूप:-

अस्तिधर्म का स्वरूप स्वभावरूप है परंतु रागरूप नहीं है।

नास्तिधर्म का स्वरूप स्वभावरूप है परंतु द्वेषरूप नहीं है।

यदि अस्ति-नास्ति धर्म में समय भेद दिखेगा तो जो अस्तिधर्म है वह रागरूप दिखेगा; और नास्तिधर्म है वह द्वेषरूप दिखेगा।

एक समय में अस्ति-नास्ति ऐसा द्विरूप ऐसा एकरूप स्वरूप दिखेगा तो विशेष में भी अस्तिनास्ति अनेकांत का जन्म होगा। इसलिए नास्ति धर्म द्वेषरूप, विकल्परूप या कृत्रिमरूप नहीं समझना। यह नास्ति धर्म स्वाभाविक धर्म होने से अनादि अनंत सदाकाल पर को जानने की नास्तिस्वरूप है। पर को जानने के निषेध में स्वयं जाननहार जना जाता है। यह निषेध पर को जानने के निषेध के लिए ही नहीं है, परंतु स्वप्रकाशक स्वभाव का आह्वान करने के लिए यह निषेध है। ऐसा नहीं है कि प्रयोजन की सिद्धि के लिए पर को जानने का निषेध करना है। यह कामचलाऊ बात नहीं है, यह तो सदा काल की सैद्धांतिक बात है।

(३) क्या आत्म अनुभव इतना सुगम और सरल है!

ज्ञान वास्तव में पर को जानता ही नहीं है ऐसा भाव जहाँ अंतरंग से उठा वहाँ तत्क्षण जो जाननहार जानने में आ रहा था, विशेष में भी वह स्वभाव प्रगट हो जाता है। क्या पर को जानने का निषेध किया तो जाननहार जानने में आ गया? 'हाँ।' पर को जानने के निषेध में ही जाननहार को जानने की अस्ति छुपी हुई है। पर को जानने की नास्ति में तो जाननहार को जानने की अस्ति वर्तती है। क्योंकि "19 जीव भी ग्रहण करने नहीं जाता कर्णगोचर शब्द को" ज्ञान स्वभाव पर को जानने के अभावरूप है और जाननहार को जानने के सद्भावरूप है।

संत कहते हैं कि: तू पर को जानने का निर्दयपने से निषेध तो कर और फिर देख मजा! आत्मानुभव न हो तो हमारे पास से ले जाना।

'मैं पर को जानता हूँ' वह श्रद्धापूर्वक ज्ञान का दोष है। वह मिथ्यात्व का राग है। श्रद्धा में ऐसा है कि "मैं पर को जानता हूँ" तो नियम से उपयोग पर के सन्मुख ही मुड़ा करेगा। अब कोई व्यक्ति ज्ञान में अस्ति से लिया करे कि: "मैं जाननहार हूँ, जाननहार जानने में आता है" और उसकी श्रद्धा में पहले वाला शल्य पड़ा है कि "मैं पर को जानता हूँ" अथवा "पर मुझे जानने में आता है" ऐसा रहा करे, तो उपयोग आत्मसन्मुख हो जाये ऐसा हो ही नहीं सकता। वास्तव में पर जानने में नहीं आता, उसमें ही श्रद्धापूर्वक वीतरागी ज्ञान, ज्ञायक के अभिमुख होता है।

(४) प्रतिभासित ज्ञानकला :-

स्वपरप्रकाशक ज्ञान की पर्याय का प्रमाणरूप व्यवहार है यह आगम का वचन है। दूसरा आगम का ऐसा वचन भी है कि स्वपर का प्रतिभास होता है। ये दोनों बातें आगम से प्रसिद्ध हैं। अब, स्वपरप्रकाशक और स्वपर का प्रतिभास इन दोनों के बीच में क्या अंतर है वह देखते हैं। श्री पंचाध्यायी में महत्व की बात बतलाते हैं कि : ज्ञान स्वसन्मुख कैसे हो और पर से विमुख कैसे हो वह बात है।

"²⁰अर्थ विकल्पो ज्ञानं भवति तदेकं विकल्पमात्रत्वात्।" ज्ञान स्वपरपदार्थ को विषय करता है अर्थात् कि दो का प्रतिभास होता है। दोनों के प्रतिभास में आने पर ज्ञान में आ जाओगे; और स्वपर दोनों को जानता है- ऐसा लेने से परज्ञेय के सन्मुख हो जाओगे। इसप्रकार ज्ञान के विषय भेद से दो भेद हो जाते हैं। यही बात श्री कुंदकुंददेव फरमाते हैं।

"²¹प्रथम तो अर्थ विकल्प वह ज्ञान है। वहाँ अर्थ अर्थात् क्या? स्वपर के विभागपूर्वक रहा हुआ विश्व वह अर्थ है। उसके आकारों का अवभासन वह विकल्प है। जिसमें युगपद् स्वपर के आकार अवभासित होते हैं।" इसमें एक रहस्यमय बात दृष्टिगोचर हुये बिना नहीं रहती कि ज्ञान दोनों को जानता है या दोनों का प्रतिभास होता है। यह अंतर साधारण नहीं है, पूर्व-पश्चिम जितना अंतर है।

²²पृथ्वी आदि काया जीव नहीं है क्योंकि काया में जीव के लक्षणभूत चैतन्य स्वभाव का अभाव है। उनमें ही जो स्व-पर की ज्ञप्तिरूप प्रकाशित होता हुआ ज्ञान है, वह ही गुण-गुणी के कथंचित् अभेद के कारण, जीवपने प्ररूपित किया जाता है।

कर्तृत्व तो छोड़ा लेकिन ज्ञान का स्वभाव स्वपरप्रकाशक है तो स्व को जानूँ और पर को जानूँ! एकांत पर को जानूँ तो तो भ्रांति कहलाती है; लेकिन... आत्मा को जानते जानते मैं पर को जानूँगा! वह भी भ्रांति है। अर्थ विकल्पपना सभी ज्ञानों में है। अब प्रथम तो रागादि, देहादि का 'प्रतिभास' होता है वहीं प्रश्न का विराम हो जाता है क्योंकि 'मैं पर को जानता हूँ' वह प्रश्न प्रतिभास का स्वीकार करने पर उठता नहीं।

अब यहाँ कहते हैं कि ²³जो प्रमाण में से निश्चय निकालता है वह जिनागम में कुशल है। क्योंकि प्रमाण है वह भेदज्ञान के लिए है। इस प्रतिभासरूप स्वपरप्रकाशक में विधि-निषेध करना चाहिए। स्वपरप्रकाशक में से स्वप्रकाशक निकाले तभी साध्य की सिद्धि होती है। स्वपर दोनों जानने में आते हैं- वह प्रमाणज्ञान का पक्ष होने से उसमें अनुभव नहीं होता। क्योंकि स्वपरप्रकाशक अपनेआप में ही व्यवहार है। और इस व्यवहार को सत्यार्थ माने तो मिथ्यात्व का दोष लगता है।

प्रमाण के पक्ष में से प्रथम तो सविकल्प निश्चयनय के पक्ष में आना वह भी मुश्किल है। फिर उस पक्ष से छूटकर पक्षातिक्रान्त होना उसमें अनंत पुरुषार्थ है। व्यवहार से पर को जानने का निषेध करे तब तो अभी स्वभाव के पक्ष में आया है। इसलिए तो कहा है कि: "²⁴व्यवहार का जब प्रलय कर दिया जाता है तब एक शुद्धनय प्रकाशमान होता है।" यह स्वपरप्रकाशकज्ञान प्रमाणरूप पर्याय का लक्षण होने से व्यवहारनय का विषय है। और भगवान आत्मा व्यवहारनय का विषय ही नहीं है। अब श्रीगुरु की दिव्य देशना प्राप्त होने पर वह व्यवहार का निषेध करता है कि : ज्ञेय तो जानने में आते नहीं, ज्ञेयाकार ज्ञान भी नहीं और ज्ञानाकार ज्ञान भी नहीं। क्योंकि "²⁵सामान्य को देखता, विशेष को नहीं देखता"। देखो! इसमें भी आचार्यदेव ने अस्ति-नास्ति अनेकांत का प्रयोग किया। ऐसे अस्ति-नास्ति

20 श्री पंचाध्यायी प्राकृत गाथा ५५८ (माखनलालजी)

21 श्री प्रवचनसार १२४ गाथा

22 श्री पंचास्तिकाय - १२१ गाथा

23 श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा

24 श्री देवसेन आचार्य नयचक्र में से, पेज ३१-३२

25 श्री प्रवचनसार जी ११४ गाथा

में आने पर पर्यायार्थिक चक्षु सर्वथा बंद होने पर शुद्धनय प्रगट होता है।

इसप्रकार पर के प्रतिभास को गौण करके, गर्भित करके, उसका लक्ष छूटते ही नयपूर्वक सम्यक् प्रमाणज्ञान का जन्म होता है। ऐसे निर्विकल्प स्वरूप का कथन साधक सविकल्प दशा में आकर करते हैं।

(५) स्वपरप्रकाशक का सम्यक् स्वरूप :

स्वपर प्रतिभास में आने पर अपेक्षित गुण प्रगट हुआ। अब उसे बल आता है और ज्ञान पर्याय के प्रमाण में भेदज्ञान करने पर स्वप्रकाशक प्रगटता है। इस स्वप्रकाशक में अकेला सामान्य ज्ञायक ही ज्ञात होता है। यह स्वप्रकाशक उपादेय स्वभाव को ही अवलोकता है। अब निर्विकल्प ध्यान में उस ही समय निश्चय स्वपरप्रकाशक प्रगटता है। यह ज्ञान का सविकल्प साकार स्वभाव होने से ज्ञान ज्ञान को जानता है। अथवा ज्ञान ज्ञायक को जानता है और आनंद आदि निर्मल पर्यायें प्रगट हुई हैं उनको भी जानता है। उसमें मात्र जानना ही है। यह जानन स्वभाव अंदर में स्व या पर किसी की तरफ झुके बिना ज्ञानत्व स्वभाव से जान लेता है।

यदि ज्ञान में बिल्कुल स्वपरप्रकाशकपना न हो तो सम्यग्दर्शन हुआ उसका पता कैसे चलता? निर्विकल्प के काल में यदि सविकल्प निश्चय स्वपरप्रकाशक प्रगट न हो तो एक समय में "उत्पाद् व्यय ध्रौव्य युक्तम् सत्" का ज्ञान नहीं होता। तो उसे जानने के लिए दो समय लगते तो तो पक्ष रह गया परंतु पक्षातिक्रान्त नहीं हुआ। अंदर में लक्ष बिना भी बहुत जानने में आता है। यदि जानने में न आये तो ज्ञेय की सिद्धि नहीं होती। और 'ध्येयपूर्वक ज्ञेय का' तो समय एक है। वस्तु में क्रम नहीं है, ज्ञान में क्रम नहीं है, परंतु कथन में क्रम पड़ता है।

अब साधक सविकल्प दशा में आता है तब ²⁶जिस ज्ञान में राग प्रतिभासित होता है ऐसा ज्ञान आत्मा को जानता हुआ परिणमता है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि "²⁷जाना हुआ प्रयोजनवान है"- वह गुण नहीं वरन् दोष है। क्योंकि उसमें श्रेणी अटकती है। जो श्रेणी प्रगट करने के लिए उपदेश है, सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए भी वही उपदेश है। इसप्रकार "²⁸स्वपरप्रकाशक भी कथंचित् है"। इस निर्विषयी ज्ञान का स्वरूप दर्शाते हुये पंचाध्यायी ने तो "स्वपरप्रकाशक ज्ञान को"²⁹ असत् लक्षण" बताया है।

लक्षपूर्वक आत्मा को जानता है वह ज्ञान का स्वप्रकाशक स्वभाव है। आत्मज्ञान एकांतरूप से स्वप्रकाशक ही है। परप्रकाशक तो नहीं परंतु स्वपरप्रकाशक भी नहीं। स्वप्रकाशक एवं निश्चय स्वपरप्रकाशक ज्ञान में अस्ति-नास्ति अनेकांत वर्तता होने से वह कभी पर को जानने जाये या ज्ञान में कभी परपदार्थ स्वज्ञेय हो जायें ऐसा होनेवाला नहीं है। वास्तव में परमार्थ सत्य तो यह है कि ज्ञायक के अहम् में पर को जानने के निषेधरूप परिणमन है। उसे विकल्परूप निषेध की जरूरत नहीं है। जिस समय पर्याय में अस्ति धर्म है उसी समय पर्याय में नास्ति धर्म भी है ही। तो फिर उसरूप उसका परिणमन भी होता है न? पर्याय एक! उसके स्वभाव दो हैं और उसका स्वीकार वह धर्म है। अर्थात्

26 श्री समयसार गाथा-७५

27 श्री समयसार गाथा-१२

28 श्री नियमसार गाथा १५९

29 श्री पंचाध्यायी गाथा ५४२/५४३

जैसा अज्ञानी मानता है वैसा स्वपरप्रकाशक तो कभी आनेवाला ही नहीं है। इसलिये निश्चय से ही ज्ञान आत्मा को जानता है और निश्चय से ही ज्ञान पर को (लक्षरूप) नहीं जानता, ये दोनों निश्चय परिणमनरूप हैं। किसी जीव को पर का ज्ञान होता ही नहीं, अशक्य है।

ज्ञान आत्मा को ही जानता है। पर को जानना अशक्य है। इसमें कथंचित् लागू नहीं पड़ता। स्वभाव में कथंचित् लागू नहीं पड़ता। अस्ति-नास्ति धर्म ध्येय की अपेक्षा से भले ही अलग हो लेकिन ज्ञेय की अपेक्षा से भिन्न नहीं है। सब ही एक अभेद स्वज्ञेय है।

(६) अस्ति-नास्ति प्रवाद अर्क :-

स्वपरप्रकाशक ज्ञानपर्याय का प्रमाणभूत लक्षण है वह पहले कहा जा चुका है। वह निगोद से लेकर सिद्ध तक सभी जीवों को है। इस ज्ञान पर्याय में स्व का प्रतिभास तो है और साथ-साथ पर का प्रतिभास भी है। उसमें उसे पर के प्रतिभास के निषेध का बल आना चाहिए वह आता नहीं। इसलिये विधि निषेध में आने से उसे भेदज्ञान होता है। स्वपर के प्रतिभास में किसी की (विषय की) मुख्यता नहीं है। जबकि अस्ति-नास्ति अनेकांत में तो लक्ष की मुख्यता है।

अब स्वपर दोनों ज्ञात होते हैं ऐसे स्वपरप्रकाशक के पक्षवाला स्व के प्रतिभास का स्वीकार तो करता है लेकिन... वह पर प्रतिभास के लक्ष का निषेध नहीं कर सकता। शास्त्र में ³⁰"व्यवहार को परमार्थ का प्रतिपादक कहा है लेकिन वह अनुसरण करने योग्य नहीं है।" यदि पर के प्रतिभास का निषेध वर्ते तो ही पर का प्रतिभास, प्रतिभास कहलाता है, नहीं तो पर के प्रतिभास का लक्ष होने से अज्ञान हो गया, ज्ञान कहाँ रहा! जो कि अप्रतिबुद्ध को प्रतिसमय अनादि से विशेष में चल ही रहा है। अज्ञानी बोलता है ज्ञान स्वपरप्रकाशक, लेकिन उसे तो एकांत परप्रकाशक ही है। व्यवहार स्वपरप्रकाशक वह उसे निश्चयरूप में ग्रहण हो गया है। व्यवहार को परमार्थ मानता है तो फिर परमार्थ का ग्रहण किस प्रकार हो? इसलिये संत फरमाते हैं कि...

हे भव्य! तू एक नास्ति धर्म को व्यवस्थित समझ ले तो तुझे पूरा धर्मी भगवान जानने में आ जायेगा। पर को जानता हूँ- उस शल्य को जीवित रखकर 'जाननहार जानने में आता है' ऐसे विकल्प के रथ पर सवार होगा तो तुझे अनुभव तो दूर रहा लेकिन यथार्थ निर्णय भी नहीं होगा। विधि-निषेध के बिना यथार्थ निर्णय भी नहीं होता। अस्ति के जोर से नास्ति का विकल्प गलता है और स्वभाव के बल से विधि का विकल्प टलता है।

मिथ्या एकांत एवं मिथ्या अनेकांत उन दोनों का निषेधक अस्तिरूप सम्यक् एकांत और अस्ति-नास्तिरूप सम्यक् अनेकांत है! इसप्रकार पर को जानने का निषेध किये बिना पर का लक्ष किसी को न छूटा था... न छूट सकता है... और न छूटनेवाला है।

(७) ज्ञानपर्याय का निश्चय स्वभाव :-

अज्ञानी प्राणी का झुकाव... ढलान... खिंचाव... रुझान... श्रद्धान पर में होने से उसे निषेध के स्वर में समझाया। 'ज्ञायक ज्ञायक को जानता है' ऐसा कहने से अतत्त्वविद् समझ नहीं पाता था। इसलिये उसे कहा कि : ³¹"ज्ञायक नहीं त्यों अन्य का, ज्ञायक अहो ज्ञायक तथा," नास्तिपूर्वक अस्ति

30 श्री समयसार गाथा ९-१०

31 श्री समयसार गाथा ३५६ से ३६५

समझाई। स्वयं समझना और समझाना उसमें नजदीक का यदि कोई व्यवहार हो तो वह यह अस्ति-नास्ति बलवान करण (साधन) है।

लक्षण लक्ष्य को ही प्रसिद्ध करता है, अलक्ष्य को नहीं।³² 'परलक्ष अभावात्' उस न्याय से विशेष में भी विशेष को जानने का अभाव है, ऐसा ही ज्ञान पर्याय का नास्ति स्वभाव है। नास्ति धर्म के कारण यदि पर्याय पर्याय को भी जानती न हो तो पर को किस तरह से जाने? जिसका अवलंबन है उसका ही मात्र अवलोकन है। जो विभक्त है वह जानने में ही नहीं आता।³³ "भिन्ना भावा नो दृष्टाः" पर के लक्ष के अभाववाली अवस्था वह ही प्रत्याख्यान है। इसमें भी अस्ति-नास्ति अनेकांत आया!

जब एक अभेद ज्ञान समुद्र भगवान आत्मा का जानना हुआ, पर के लक्ष के अभावरूप स्वभाव का ग्रहण हुआ; तब पर को ग्रहण करनेवाली भाव इन्द्रिय लब्ध हो गई। अर्थात् कि व्यापाररूप प्रगट नहीं हुई। यही अस्ति-नास्ति अनेकांत का परमार्थ स्वरूप है। लौकिक में पत्नि धर्म को तो मात्र पति धर्म का ही अवलंबन होता है। अब जब पुत्र की तरफ से माता है, तब भी पति के अवलंबन से ही तो मातृत्व प्रगट हुआ है, ऐसे ही ज्ञानमात्र कहने से अवलंबन तो मात्र अस्तिभाव का है और बिना पुरुषार्थ ही नास्ति का ज्ञान हो जाता है।

'हाँ' इतना है कि आत्मा का ज्ञान तो आत्मा के सन्मुख होते हैं तभी होता है। ज्ञान ज्ञानपर्याय के सन्मुख रहे और अस्ति-नास्ति का ज्ञान हो जाये ऐसा नहीं बनता। वह तो अस्ति में आया तो लोकालोक की मेरे में नास्ति है, वह सहज आ गया। वह अस्ति में आया और आत्मा आत्मा को जाननेरूप परिणमता है; तो अस्ति के ज्ञान में नास्ति का ज्ञान आ ही जाता है। जो आत्मा में नहीं है उसे सिद्ध करने के लिए ज्ञान का उपयोग वहाँ लगाना नहीं पड़ता। यह राग मेरे से भिन्न है- इसप्रकार ज्ञान राग को प्रसिद्ध नहीं करता, अर्थात् नास्ति के सन्मुख नहीं होना पड़ता।

उदाहरण: तुम अपने घर में दाखिल हुए तो बराबर का घर मेरे घर में नहीं है ऐसा सहज ही आ गया। यह घर मेरा; यह घर तुम्हारा - ऐसा कहने नहीं जाना पड़ता। जहाँ आत्मा में एकाकार हुआ वहाँ पर में से एकत्वबुद्धि छूट जाती है। उसके लिए नया पुरुषार्थ नहीं है।

आत्मा के सन्मुख रहते रहते नास्ति का ज्ञान सहज लक्ष के बिना (अंदर) में हो जाता है। इसप्रकार नास्ति धर्म पर की सन्मुखता छुड़ाता है। क्योंकि नास्ति धर्म को भी अवलंबन तो ज्ञायक परमात्मा का ही है न?! नास्ति धर्म का स्वरूप समझने पर सहज ही पर का लक्ष छूट जाता है।

(८) निष्कर्ष :-

वास्तव में पर जानने में नहीं आता और 'जाननहार जानने में आता है' और 'मैं जाननहार हूँ'; उसमें आया; अनुभव हुआ! अब फिर से 'पर को जानता हूँ; पर जानने में आता है' वह किस तरह से आ सकता है? नीचे की भूमिका वाले ज्ञानी पर के जाननपने का निषेध करके स्वप्रकाशक में आते हैं; तो फिर परिपूर्ण केवलज्ञान में लोकालोक कहाँ से जानने में आये! वे लोकालोक को न ही जानते हैं... न ही जानने में आता है...! मात्र प्रतिभास होता है; वहाँ पूर्ण विराम है।

32 श्री परम अध्यात्म तरंगिणी कलश-४२

33 श्री समयसार ३७ कलश

* वास्तव में पर जानने में नहीं आता उस नास्तिरूप निश्चय में पर के प्रतिभास का निषेध नहीं है।

* 'जाननहार जानने में आता है' वह अस्तिरूप निश्चय है। उसमें स्व के लक्ष का निर्देश है।

* "मैं जाननहार हूँ" वह परमार्थरूप निश्चय है। उसमें ज्ञानत्व स्वभाव ज्ञातव्य होता है।

जाननहार ही जानने में आ रहा है ऐसा मेरा अस्ति स्वभाव है। वास्तव में पर जानने में न आये- ऐसा मेरा नास्ति स्वभाव है। इसप्रकार स्वभाव से ही जाननहार ज्ञात होता है और स्वभाव से ही पर जानने में नहीं आता।

ज्ञान का स्वभाव पर को जानने का नहीं है और ज्ञान स्वभाव से ही पर को जानता नहीं है- ये स्वीकार किए बिना सम्यग्दर्शन किसके आश्रय से होगा?

अस्ति-नास्ति सापेक्ष होने से नास्ति धर्म को जानने पर पूरा धर्मी भगवान आत्मा ज्ञात हो जाता है। जहाँ 'पर को नहीं जानता' वहाँ उसी समय ज्ञायक ज्ञायक को जाननेरूप परिणम जाता है। नास्तिअस्ति का समय एक है। जहाँ नास्तिधर्म को जाना वहाँ अस्ति हो गई। स्वाभाविक ज्ञान में स्वभाव ज्ञात होता है। वह ज्ञान सम्यक् एकांतरूप ही है। इस ज्ञान में अस्ति-नास्ति निर्विकल्पता है। आत्मा का एक एक धर्म और उसका स्वरूप समझे तो नियम से पर का लक्ष छूटकर आत्मा का लक्ष हो जाता है।

नास्ति का जोर आयेगा तो अस्ति का जोर आयेगा और उसमें अनुभव हो जायेगा। यह गारंटी है। अस्ति-नास्ति अनेकांत डबल इंजन के स्थान पर है। नास्ति का जोर नहीं आयेगा तो अस्ति का जोर नहीं आयेगा।

पर्याय में पर के प्रतिभास की अस्ति;

मेरे में उस ज्ञानपर्याय की भी नास्ति;

ऐसे ज्ञायक भाव की सदा ही अस्ति;

यह अस्ति की मस्ति उसका नाम स्वानुभव।

आत्मा आत्मा को जानता है ऐसे भेद में भी अनुभव का नाश होता हो तो फिर ज्ञान पर को जानता है वह बात ऐजेंडा पर खड़ी रहती ही नहीं। जीवमात्र को जो ज्ञायक अनादि से प्रतिभासरूप है वह सबको उपयोगात्मक हो ऐसी... आत्म भावना के साथ विराम लेती हूँ।

जिज्ञासा : हमें तो सब कुछ जानने में आता है।

समाधान : इसका अर्थ ये हुआ कि आत्मा का स्वभाव ही है। स्वयं जानना-देखना स्वयं को बस! ये स्वभाव है; पर को जानना-देखना तो नहीं लेकिन पर को करना वह तो बिल्कुल नहीं।

(श्री प्रवचन रत्नाकर भाग-२ पेज नं. ९७)